खो गया गाँव



डॉ. (श्रीमती) अपर्णा शर्मा

खो गया गाँव

डॉ. (श्रीमती) अपर्णा शर्मा

मूल्य : 220.00

माउन्ट बुक्स
ए-27/2-ए, शास्त्री मार्ग नं. 3, मौजपुर, दिल्ली-53 (भारत)
फोन : 011-22854533, 9810447053, 9873404472

– पुस्तक के विषय में –

'खो गया गाँव' टूटते बिखरते मानव मूल्यों, खोती संवेदनाओं और नारी मन की उलझनों व तनावों को व्यक्त करती कहानियों का संग्रह है। हम अपनी परम्पराओं को खोना नहीं चाहते फिर भी वह हर दिन खो रही हैं। हमें कारणों का भी कुछ-कुछ भान है पर भौतिकता की चमक व समय का अभाव, सब कुछ जानकर भी अनदेखा करने को हमें हर दिन उकसाता है। हमारे अंदर कहीं टीस भी उठती है परन्तु कुछ सकारात्मक करने को कदम नहीं बढ़ते। ये कहानियाँ आज के मानव की इसी मनोदशा को दर्शाने का प्रयास हैं। ये कहानियाँ हमें बताती हैं कि आधुनिक सभ्यता और तकनीकी विकास की जिन सौगातों पर आज के समाज को नाज है उनके लिए हम बड़ी कीमत चुका रहे हैं। आम जिंदगी से जुड़े चरित्र कहानियों में इस तरह सजीव हुये हैं कि वे साधारण से असाधारण बन गए हैं। उन्हीं में कुछ चरित्र आदर्श प्रस्तुत करते हुये समाज को दिशा देने का प्रयास करते हैं। 'दीदी की शादी' की मीनाक्षी जहाँ परिवार को आर्थिक संकट से उबारने के लिये निजी भावनाओं व आवश्यकताओं को नकार देती है, वहीं 'भगत' का भगत और 'भगवती' की भगवती ग्रामीण जीवन में प्रकृति प्रेम, पशु सेवा एवं निडरता के लिए संघर्षरत है। सरल, सहज व बोधगम्य भाषा-शैली में लिखी 'खो गया गाँव' संग्रह की कहानियाँ सहृदय पाठकों के मानस पटल पर स्पंदित होते रहने की संभावना से भरी हैं।

खो गया गाँव

खो गया गाँव

डॉ॰ (श्रीमती) अपर्णा शर्मा

माउण्ट बुक्स
दिल्ली–110053

ISBN : 978-81-90911-09-7-8

प्रकाशक : **माउण्ट बुक्स** (हेमन्त कुमार)
ए-27/2-ए, शास्त्री मार्ग नं. 3
मौजपुर, दिल्ली-110053
फोन : 011-22854533
मोबाइल : 9873404472, 9810447053

संस्करण : 2010

मूल्य : 220.00

शब्द संयोजक : आकृति ग्राफिक्स, दिल्ली-32

मुद्रक : चेतना प्रिंटर्स, मौजपुर, दिल्ली-53

KHO GAYA GAON (A collection of short stories) By
Dr. (Mrs) Aparna Sharma

— अनुक्रम —

उन अपनों को जिनकी
स्मृतियाँ ही अब शेष हैं।

– अपनी बात –

हर घटना में कुछ आनंद, दर्द और कुछ संदेश निहित होता है। जब इस आनंद या दर्द का प्रसार होने लगता है और संदेश बहुपयोगी हो जाता है तो घटना कहानी का रूप ले लेती है। फिर वह कहानी चाहें मौखिक रहकर चर्चा का विषय बने या कागज़ पर उतर कर साहित्य का हिस्सा बन जाये, हर हाल में उसका उद्‌देश्य पाठक को सजग करना होता है। 'खो गया गाँव' कहानी संग्रह की कहानियाँ भी टूटते मूल्यों और खोती संवेदनाओं से समाज में जन्मी नई समस्याओं की ओर पाठक का ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास हैं।

पाप से पुण्य बनते जीवन मूल्यों के क्रम की त्रासदी सबसे अधिक मध्यम वर्ग को भोगनी पड़ती है। ऐसी ही त्रासदियों को भोगते मध्यम वर्गीय चरित्रों के इर्द-गिर्द 'खो गया गाँव' कहानी संग्रह की कहानियों को बुनने की कोशिश निरंतर बनी रही है। कुछ कहानियों के पात्र बदलाव की टीस को मौन रहकर स्वीकारते हैं तो कुछ विरोध में खड़े होते हैं।

गाँव आज भी हमारी आस्थाओं और विश्वासों के स्रोत हैं। हम जब शहरी मकड़ जाल से ऊबते और लाचार होते हैं तो एक उम्मीद के साथ गाँव की ओर देखते हैं किन्तु हमें वहाँ भी अधिकांशतः निराशा ही हाथ लगती है। इस हताशा और निराशा को आज हम स्वीकारने लगे हैं लेकिन स्थिति को सुधारने में एकल रूप से स्वयं को असमर्थ पाते हैं और सामूहिक सोच या फुर्सत भी कहीं नजर नहीं आती। अतः शहरी भौतिकवाद के अजगर का मुँह दिनोंदिन बड़ा होता हुआ ग्रामीण प्राकृतिक और भावनात्मक परिवेश को तेजी से निगल रहा है। संग्रह के कहानी-पात्र इस स्थिति का बखूबी एहसास करते हैं।

चार पीढ़ी पुराने इतिहास को हम भूल जाते हैं लेकिन दादी-नानी का ज़माना हमारे बचपन में रचा-बचा होता है। उनके सिद्धांतों और संस्कारों को अगली पीढ़ियों में खोते हुये देखना हर दिन दुःख देता है। उनके संदेशों, उपदेशों, अनुभवों और यहाँ तक कि परिवार में उनके अस्तित्व को ही नकारा जाना कचोटता है। इस कहानी संग्रह में कहानी पात्रों द्वारा संस्कारों को आगे बढ़ाने और परिवार में वृद्धों के महत्व को स्थापित कराने का एक लघु प्रयास मेरे द्वारा हुआ है।

अर्थ के समक्ष इन्सान का अस्तित्व हर दिन सिकुड़ रहा है। अन्तरात्मा कहती है, गलत है पर धन की लालसा भावों को कुचल देती है। हर शहर, हर गली में प्रतिदिन ऐसी

असंख्य घटनाएं दोहराई जा रही हैं और इंसान गलत समझते हुए भी धन लोलुप्ता में सब सहन कर रहा है। संग्रह की कुछ कहानियों के पात्र स्वयं को इसी असहाय स्थिति में पाते हैं।

पारिवारिक संबंधों को यदि हम अपने नज़रिये से आँकते हैं तो ढेरों शिकवे शिकायत होने लगते हैं परन्तु जब परिस्थितियों का आँकलन दूसरों के नज़रिये से करते हैं तो स्थिति स्पष्ट हो जाता है, साथ ही दूसरों की ग़लतियों की वजह समझ में आ जाती है और सब कुछ सहज व स्वाभाविक लगने लगता है। संबंधों के सहज होते प्रसंगों को पिरोते हुये संग्रह की कहानियाँ लिखी गईं हैं।

संग्रह की कुछ कहानियाँ तीन पीढ़ियों की दास्तान बयां करती हुई उनके वैचारिक अन्तर को बताती हैं और यह समझाने का प्रयास हैं कि विकास के लिये हम संवेदनाओं से जुदा हुये हैं। हम आर्थिक रूप से पहले से सम्पन्न दिखते हुये भी आर्थिक रूप से ही कुछ अर्थों में पहले से कमजोर हुये हैं। जहाँ पहले कम पैसे व कम आय में अधिक लोगों के भरण-पोषण हो जाता था वहीं आज़ परिवार में अधिक आय होने पर भी किसी के आश्रय की संभावना नहीं दिखती व परिवार टूटते और बिखर जाते हैं।

जहाँ नारी मुक्ति, नारी सशक्तिकरण, नारी समानता और नारी स्वतंत्रता ने नारी के स्वाभिमान को तो बढ़ाया है वहीं वह पहले से अधिक तनावग्रस्त और असुरक्षित भी हुई है। इसी के साथ उसका यौन शोषण का सिलसिला निरंतर जारी है।

संग्रह की पूर्णता के लिये धन्यवाद-उन असंख्य ज्ञात-अज्ञात चरित्रों व भावनाओं के स्रोतों को जिनके अस्तित्व पर कहानियाँ रची गई हैं, उन सहृदय प्रेरणा स्रोतों का जिन्होंने रचनाओं को अधकचरे रूप से उबारा है, उन बड़ो को जिन्होंने जाने अनजाने मेरे मन में साहित्य का बीजारोपण किया है, उन क्षणों को जो मन में सुगबुगाते विचारों को कागज़ पर उकेरने को मुझे मजबूर करते रहे हैं, प्रकृति और वातावरण को जो मेरे विचारों को निरंतरता प्रदान रकते हैं, उन लाड़लों को जिनके प्रति दायित्वों का समय चुरा कर मैं लिखने बैठ जाती थी, उस समालोचक को जिसने रचना की त्रुटियों को दूर करने में सहायता की, विस्तृत और सटीक प्राक्कथन लिखने वाले को, अपना अमूल्य समय देकर शुभाशंसा लिखने वाले महान आलोचक एवं साहित्यकार को और धैर्यपूर्वक रचना को पुस्तकाकार देने वाले प्रकाशक को। मूल्यों और मान्यताओं के खोन के दर्द को कहानियों में पिरोने का प्रयास करता 'खो गया गाँव' कहानी संग्रह आपके समक्ष प्रस्तुत है।

त्रुटियों की क्षमा-याचना।

अपर्णा शर्मा

विश्रुत, 5 एम.आई.जी
गोंविदपुर, अपट्रान चौराहा,
इलाहाबाद - 211004

– शुभाशंसा –

बौद्धिकता से अनातंकित: संवेदना से सराबोर

साहित्य की एक लोकप्रिय विधा के तौर पर कहानी मनुष्य के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, संतोष-असंतोष और स्वप्न-सत्य के बीच के द्वंद्वों को हमारी संवेदना में उतारने का सशक्त माध्यम रही है। लेकिन हमारा समाज ज्यों-ज्यों जटिल होता जा रहा है, कहानी विधा के लिए भी चुनौतियाँ बढ़ती जा रही हैं। सबसे बड़ी चुनौती है, आज के जीवनानुभवों को प्रामाणिकता के साथ कहानी की भाषा के उतार पाने की। हिंदी के हमारे समकालीन कहानीकार इस चुनौती को स्वीकार करने की कोशिश में कभी-कभी इतने 'बौद्धिक' हो जाते हैं कि प्रुब्ध पाठक ही उनसे संवेदित हो पाते हैं, सामान्य पाठक उनके रचनात्मक साहस से परिचित होने का उत्साह अर्जित नहीं कर पाते। डॉ. अपर्णा शर्मा के इस संग्रह की विशेषता है कि इसमें संकलित कहानियां हमें उस भावना-जगत् में ले जाती हैं, जो बहुत ही सामान्य चरित्रों से रचा-बसा है। इन कहानियों में 'बौद्धिकता' का आतंक नहीं है, हार्दिकता का अपनापा है। कहीं उन मुस्कानों को सहेजने की छटपटाहट है जो आधुनिक सभ्यता की चकाचौंध में गुम हो जाने को अभिशप्त हैं, तो कहीं उन आँसुओं की नमी को हमारे अहसास में लाने की बेचैनी है, जिन्हें आँखों में आने से भी रोक लिया जा रहा है।

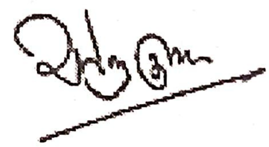
ये कहानियाँ हमें बताती हैं कि आधुनिक सभ्यता और तकनीकी विकास की जिन सौगतों पर आज के समाज को बड़ा नाज़ है, उन्हें हम किन कीमतों पर पा रहे हैं। 'खो गया गाँव' शीर्षक बहुत ही व्यंजनापूर्ण है। 'गाँव' यहाँ सिर्फ़ 'शहर' का विलोम नहीं है। 'गाँव' यहाँ प्रतीकात्मक तौर पर उस अपनापे और सहज भावनात्मक लगाव की व्यंजना करता है, जिससे हम निरंतर वंचित होते जा रहे हैं। गाँव का खो

जाना मानों उस 'भावनात्मकता' का खो जाना है, जिसका कोई विकल्प सभ्यता की किसी सौगात में हमें नहीं मिल सकता।

कहानियों के कथ्य में जिन घटनाओं को लिया गया है, अनुभवों को जीवंत बनाने में उनका सार्थक योग है। समाज के विभिन्न वर्गों की मनःस्थिति का साक्षात्कार कराने में लेखिका ने अपने जाने-बूझे ओर देखे-परखे चरित्रों का चुनाव किया है। 'भगत' जैसी कहानी रेखाचित्रात्मक है तो अन्य कहानियों में भी व्यक्ति-चित्रों का अंकन बहुत मर्मस्पर्शी है। 'दीदी की शादी', 'पगली की वापसी', 'मेरी बेटी', 'लंबी चोटी', 'बड़ी बहन' जैसी कहानियों में नारी-जीवन के सजीव चित्र हैं। एक तरह से यह संग्रह आसपास के जीवन से लिए गये व्यक्ति-चित्रों का 'अलबम' है। इन चित्रों में विविधता है, जिससे पता चलता है कि लेखिका के अनुभव का दायरा व्यापक है।

कहानियों में कई ऐसे चरित्र हैं जो आम ज़िंदगी में हम सबके परिचित हैं। लेकिन लेखिका उन्हें अपनी कहानियों में इस तरह सजीव करती हैं कि वे अपनी साधारणता में असाधारण हो उठते हैं। 'झाड़ू', 'लंबी चोटी' और 'खो गया गाँव' कहानियाँ अपनी मर्मस्पर्शिता और चरित्रांकन के लिए पाठकों की स्मृति में देर तक स्पंदित होती रहने की संभावना लिए हुए हैं।

भाषा उलझाव-रहित है और वर्णन-शैली ऐसी, कि कहानी पढ़ना शुरू करते ही पाठक के मन में पूरी कहानी पढ़ने की उत्सुकता जग जाती है। पठनीयता के संकट के युग में अपने कथ्य की सम्प्रेषणीयता और संवेदनीयता के लिए इस संग्रह की कहानियों को पाठक ज़रूर सराहेंगे, ऐसी उम्मीद है।



प्रो. राजेन्द्र कुमार
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
संपादक—'अभिप्राय' एवं 'बहुवचन'

12-बी/1 बन्द रोड, एलनगंज
इलाहाबाद-211002
दूरभाषः 0532-2466529
30 जून 2010

– प्राक्कथन –

उदात्त एवं मानवीय चरित्रों की कहानियाँ

'खो गया गाँव' डॉ. अपर्णा शर्मा का पहला कहानी-संग्रह है। इसमें उनकी पंद्रह कहानियाँ संगृहीत हैं। संग्रह की अधिकांश कहानियाँ हिंदी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और प्रकाशित होते ही इन्होंने पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। विमर्शवादी लेखन– स्त्री विमर्श एवं दलित विमर्श– के इस दौर में डॉ. अपर्णा शर्मा की कहानियाँ बगैर किसी विमर्श का अवलंब लिए कथ्य और शिल्प की नवीनता के कारण हमारा ध्यान खींचती हैं। इसके साथ ही इन कहानियों से गुजरते हुए यह महसूस होता है कि आखिरकार वह कथा तत्त्व ही है जो कहानी की आयु बढ़ता है। इन कहानियों में कथा तत्त्व अत्यंत सघन है। इन कहानियों की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता जो लक्षित की जा सकती है वह है सरल और बोधगम्य भाषा। अज्ञात नहीं है कि प्रतीकों और विम्बों से युक्त भाषा बहुधा हिंदी के सामान्य पाठकों (वस्तुतः कहानी सामान्य पाठकों को ध्यान में रख कर ही रची जाती है) को भ्रमित ही करती है। डॉ. शर्मा की ये कहानियाँ सीधे सरल भाषिक-विन्यास के कारण पाठक के लिए ग्राह्य हैं। इन कहानियों में जहाँ एक तरफ कहानीकार ने आज के गतिशील समाज का चित्र खींचने का प्रयास किया है, वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति और परंपरा के महत्त्व –स्थापन का कार्य भी उसने किया है। आज समाज में बदलाव की प्रक्रिया बहुत तेज है। लोगों की जीवन-शैली बहुत तेजी से बदल रही है। इस बदली हुई जीवन-शैली को ही आधुनिकता का पर्याय मान लिया गया है। संग्रह की इन कहानियों में लेखिका ने अपने गहन पर्यवेक्षण से बदलाव की इस प्रक्रिया को सूक्ष्मता के साथ निदर्शित किया है। निस्संदेह किसी भी रचनाकार की सफलता का मानदण्ड अपने समय की आहटों को सुनने में ही निहित है।

'दीदी की शादी' संग्रह की पहली कहानी है। कहानी एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की बड़ी लड़की मीनाक्षी को केंद्र में रखते हुए रची गई है। मीनाक्षी को ही इस कहानी में दीदी संबोधन दिया गया है। पहली दृष्टि में प्रतीत होता है कि यह कहानी मीनाक्षी अर्थात् दीदी की शादी से सम्बंधित है, किंतु गहराई से जब हम इस कहानी का मूल्यांकन करते हैं तो पता चलता है दीदी के माध्यम से लेखिका ने एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक स्थिति का रेखांकन सफलतापूर्वक किया है। दीदी की शादी के लिए उसकी दादी ने अनेक स्वप्न सँजोये थे। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–"दादी घर, बाहर, रिश्तेदारी सभी जगह दीदी की शादी की चर्चा करती रहती। लड़का कैसा होना चाहिए? घर द्वार कैसा हो? दहेज में क्या दिया जाना है और बारातियों का स्वागत कैसे होगा? दादी की बातों में इन्हीं सब मुद्दों की प्रमुखता होती।" लेकिन दमे की बीमारी की वजह से दादी का अचानक निधन हो जाता है और उसके स्वप्न उसके साथ ही चले जाते हैं। मीनाक्षी अपनी पढ़ाई पूरीकरने में लग जाती है परिवार की आर्थिक स्थिति की तरफ ध्यान देती है तथा अपने छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई में सहयोग प्रदान करती है। लेकिन इसके साथ ही उसकी वैयक्तिक इच्छाएँ-आकांक्षाएँ हाशिए पर आ जाती हैं। शादी में विलंब होता है और अंततः मीनाक्षी अर्थात् दीदी अपनी शादी न करके अपनी बहन नीलू की शादी करती हैं। दादी द्वारा दिये हुए हार को नीलू को पहना देती है। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–"जब विदाई का समय आ गया और नीलू पूरी तरह तैयार हो गई तो दीदी ने आकर उसके गले में हार पहना दिया और हाथों में चूड़ियाँ। यह वही हार और ये वही चूड़ियाँ थीं जो मीनाक्षी की मात्र पंद्रह वर्ष की अवस्था में दादी ने उसके लिए सहेजकर रखी थीं। दादी, पिताजी और माँ ने कितने ख्वाब देखे थे जिनमें मीनाक्षी दुल्हन बनी इन चीजों को पहने रहती थी। उनके ख्वाब पूरे न हो सके पर आज मीनाक्षी का ख्वाब पूरा हो गया था।" कहानी बहुत सफलतापूर्वक अपने गंतव्य तक पहुँचती है और निम्न मध्यवर्गीय परिवार की स्थितियों को सरल शब्दों में रूपायित करती है।

'पगली की वापसी' संग्रह की दूसरी कहानी है। यह कहानी एक स्त्री पात्र 'विमला' के इर्द-गिर्द बुनी गई है। इस कहानी में विमला ही पगली है और उसी की वापसी होती है। हालाँकि वह कहीं गई नहीं है, रचनाकार ने अपने शिल्प के माध्यम से और कहानी की ज़रूरत के अनुसार उसकी वापसी को संभव बनाया है। कहानी के आरंभ में विमला, उसकी सास दुलारी तथा पति किशोर की चर्चा है। विमला का जीवन सुख से बीत रहा था। पति किशोर को इसी बीच मद्यपान की आदत पड़ जाती

है और इस आदत के कारण जहाँ एक तरफ उसकी दुकान चौपट हो जाती है वहीं दूसरी तरफ विमला भी शारीरिक और मानसिक रूप से कमज़ोर हो जाती है। अपने पति के कारण वह चिड़चिड़ी ओर गुस्सैल हो गई है। इस बीच किशोर उसे पागलखाने भेज देता है। जहाँ कुछ दिनों के उपचार के बाद वह स्वस्थ हो गई। किशोर द्वारा गलत पता दिये जाने के कारण उसे पागलखाने के अधिकारियों की तरफ से उसके घर भेजना संभव न हो सका। यहाँ से विमला की एक नई ज़िंदगी की शुरुआत होती है। वह पागलखाने की परिचारिका बन गई। कहानी की पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—"नए आये मरीजों को धैर्य से सँभालना, किसी के अस्वस्थ होने पर रात-रात भर बैठकर उसकी सेवा करना, मरीजों को नहलाना, खिलाना, दवा देना और उनकी सुख-सुविधा का ख़्याल रखना यही विमला की दिनचर्या बन गई। उसे स्वयं के लिए भी कुछ करना है, किसी को उसकी भी देखभाल करनी चाहिए ये ख़्याल कभी उसके मन में भी न आते थे। दूसरे मरीजों को उसकी सेवा की आवश्यकता है, वह केवल इसी एक पक्ष पर विचार करती थी। विमला जब यहाँ आई तो 30 वर्ष की थी। आज वह 50 की उम्र पार कर चुकी है। इतना समय उसने कैसे और किसके लिए बिताया इसका उसे कोई मलाल नहीं। अब तो वह पूर्ण रूप से स्वयं को इसी वातावरण में ढ़ाल चुकी है। परिवार और बच्चों की याद उसके लिए स्वप्न की भाँति है।" लेकिन इसी समय उसकी उसके परिवार में वापसी होती है। उसका पुत्र किशन किसी प्रकार से इसे संभव बनाता है। विमला अपने पुत्र से कहती है—"तुम्हारे पिता द्वारा दिये गये पते पर डाले गये पत्रों का जब कोई जवाब न मिला तो पागलखाने वालों ने उसे जाली समझा ओर मैं वहीं रह गई। तब से हर दिन मैंने अपने परिवार की याद में और अपने जैसी मजबूर औरतों की ज़िंदगी सँवारने में लगाया है।" विमला की वापसी सिर्फ़ एक पगली की वापसी नहीं है वरन् कहानीकार ने उसकी विडंबना को भी रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है जहाँ समाज का एक बड़ा वर्ग उसके दुष्परिणामों को भोगने को मज़बूर हो जाता है।

'मेरी बेटी-' संग्रह की एक और कहानी है जिसमें कुसुम के माध्यम से कहानीकार ने पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों को उजागर करने का प्रयास किया है। कुसुम अपनी बेटी रानी की शादी खूब लगन और उत्साह के साथ करती है। शादी के बाद रीना का स्वाभाविक रूप से ससुराल के प्रति उत्तरदायित्व है और ससुराल वाले भी उस पर अपना अधिकार समझते हैं। रीना के मायके आने पर कथा-आयोजन की योजना थी। ससुराल पक्ष द्वारा जल्दी विदाई कराने के कारण कथा

एक दिन पहले आयोजित होती है। इस प्रसंग में कुसुम दुःखी होती है। कहानी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"हाँ, हाँ सब ठीक है। अब मेरा उस पर अधिकार ही क्या है। फिर मुझे उससे कौन-सा काम कराना है। एक दिन रहे तब और दस दिन रहे तब सब बराबर है।" सबसे ज़्यादा मुश्किल त्योहारों के अवसर पर होती। कुसुम सोचती कि त्योहारों के अवसर पर उसकी बेटी उसके साथ रहे लेकिन रीना को अपने ससुराल में रहना पड़ता। ऐसे अवसरों पर रीना सोचती है—"मैंने बेटी को पैदा किया, पाला, पढ़ाया और आज मेरा ही उस पर कोई हक नहीं।" इस बीच कुसुम के बेटे रोहण की शादी हो जाती है। कुसुम अपनी बहू मोहिनी को बहुत चाहती है। बहू को लेकर उसके मन में अनेक योजनाएँ हैं। वह सोचती है "मैं एक दिन मोहिनी को खूब सुंदर साड़ी, गहनों से सजाऊँगी और तब अपनी किट्टी पार्टी वालियों को बुलाकर उसके हाथ की कोई अच्छी सी डिश भी उन्हें खिलाउँगी।" लेकिन मोहिनी का भाई जब त्योहार के अवसर पर उसे अपने साथ भेजने के लिए कहता है तो कुसुम का उत्तर देखने लायक है—"क्या उसका यहाँ रहना अशुभ है? आठ दिनों से मैंने जो तैयारियाँ की हैं, वे सब किसके लिये हैं? अम्मा को कह देना आज के दिन गृहलक्ष्मी का घर में रहना ही शुभ होता है।" जिससे मोहिनी और उसके भाई दोनों दुखी होते हैं। बाद में कुसुम को अपनी गलती का एहसास होता है और वह अपनी बहू को मायके भेज देती है। निश्चय ही कुसुम अपनी बेटी रीना से न मिल पाने के दुख को महसूस करती है और तब वह अपनी बहू मोहिनी को उसके मायके भेज देती है। कहानी जहाँ एक तरफ माँ के मर्म को प्रकट करती है वहीं बेटी और बहू के प्रति व्यवहार के अलगाव को भी स्पष्ट करती है। अंततः कहानी यह संदेश देने में समर्थ है कि बेटी और बहू दोनों के अपने-अपने उत्तरदायित्व हैं, अपने घर हैं जहाँ उन्हें संतुलन बनाना पड़ता है।

इस संग्रह की झाड़ू कहानी प्रतीकात्मक है। कहानी की शुरुआत झाड़ू—लगाने से होती है। लेकिन कहानीकार ने बहुत सधे हुए शिल्प के माध्यम से झाड़ू के बहाने समाज के बदलते हुए चित्र को उपस्थित किया है। पहले समाज में संयुक्त परिवार की संकल्पना थी। परिवार का एक मुखिया होता था। धीरे-धीरे स्थितियाँ बदलीं परिवार टूटने लगे। आधुनिकता की आड़ में पश्चिमीकरण को बढ़ावा मिला। धनार्जन के लिए लोग अपने घर-परिवार, बड़े-बूढ़ों से दूर होने लगे। झाड़ू कहानी में मालती के माध्यम से रचनाकार ने यही व्यक्त करने का प्रयास किया है मालती कहती है—"मैं झाड़ू क्यों लगाऊँ, किसके लिए लगाऊँ? यहाँ कौन मेरे बाल-बच्चे हैं।"

'हरी मिर्च' संग्रह की सबसे छोटी कहानी है किंतु अपनी व्यंजना में उतनी ही धारदार। इस कहानी में रीता और नेहा दो चरित्रों के माध्यम से लेखिका ने अपनी बात कहने का प्रयास किया है। शर्मा जी की पहली बहू रीता घर के सभी सदस्यों की जरूरतों, पसंद-नापसंद को ध्यान में रखती थी। शर्माजी को हरी मिर्च, पसंद थी तो इसे माँगने की ज़रूरत उन्हें कभी नहीं पड़ी। लेकिन रीता के अचानक निधन के बाद आयी बहू नेहा रीता के एकदम विपरीत थी। बेटे आदर्श से बहू नेहा द्वारा यह कहना—"नहीं जी। मेरी भी कोई लाइफ है। मैं अपने दोस्तों, क्लब और किटी पार्टियों को नहीं छोड़ सकती।" सुनकर शर्मा जी स्तब्ध रह गये। कहानीकार ने शर्माजी की इस मनोदशा का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है—"उन्हें रीता के चेहरे के साथ अपनी थाली में रखी हरी मिर्च का ध्यान हो आया और शीघ्र ही यह आभास भी हो गया कि अब उनकी थाली में वह नहीं होगीं शायद वो हरी मिर्च तीखी से कड़वी हो गई है।"

प्रथम पुरुष की शैली में लिखी गई 'खाने पे नजर' कहानी में लेखिका ने मनोरंजक ढंग से रेल यात्रा का वर्णन किया है। रेल की यात्रा के दौरान आसपास अनेक सहयात्री रहते हैं। यात्रा के दौरान धीरे-धीरे इन्हीं सहयात्रियों से मैत्रीभाव भी कायम हो जाता है। रेल मंत्रालय और सरकार की अनेक नसीहतों के बावजूद लोग सहयात्रियों से खान-पान का आदान-प्रदान भी करने लगते हैं। इस कहानी में हास्य-व्यंग्य मिश्रित भाषा के माध्यम से कहानीकार ने रेल यात्रा के दौरान एक सहयात्री महिला और उसके बच्चों द्वारा लेखिका तथा दूसरे यात्रियों के ठगे जाने तथा सामान लेकर भाग जाने की घटना का वर्णन किया है।

'चक्कर एडवांस का' घरों में काम करने वाली 'गुड्डो' नामक स्त्री पात्र को केंद्र में रख कर रची गई कहानी है। गुड्डो घर के सारे काम बखूबी करती थी। सभी उसके कामों से प्रसन्न रहते थे। गुड्डों में सिर्फ एक कमी थी पैसा एडवांस में माँगने की। सभी उसके इस एडवांस के चक्कर से परेशान रहते थे। प्रथम पुरुष की शैली में लिखी गई इस कहानी में लेखिका भी उसके इस एडवांस माँगने की आदत से परेशान थी। एक दिन उसने एक हजार रुपयों की माँग की। जिन घरों में वह काम करती थी सभी जगह से उसे निराशा ही हाथ लगी। बाद में पता चलता है कि रुपयों की कमी के कारण उसके बीमार पति का ठीक से इलाज न हो सका जिससे उसकी मृत्यु हो गई। कहानी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"उई की वजह से इत्ता काम करी हम। आप सब लोगन से एडवांस लेई लेई उका सब शौक पूरा करी।

हमका छोड़ गया भाभी।" गुड्डो का यह संवाद पाठक के मर्म को छू जाता है। यह कहानी कहीं न कहीं समाज में क्षरित होती संवेदना को भी प्रकट करती है।

'लंबी चोटी' कहानी पढ़ते हुए पहली दृष्टि में लगता है कि लेखिका ने चोटी माहात्म्य से सम्बंधित कहानी लिखी है। लेकिन लंबी चोटी कहानी में लेखिका ने चोटी के बहाने से दो भिन्न संस्कृतियों, परंपराओं और मूल्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कहानी में दो सहेलियां हैं—मुन्नन और सलोनी। मुन्नन लंबी चोटी की स्वामिनी थी। मुन्नन की चोटी सभी सहेलियों की चर्चाओं के केंद्र में रहती। उसकी लंबी चोटी उसकी सुंदरता में चार चाँद लगा देती थी। धीरे-धीरे समय अपनी गति से चलता रहा और मुन्नन की शादी हो गई। सलोनी भी अपने ससुराल चली गई। बाद में मुन्नन से मिलने पर सलोनी द्वारा यह पूछने पर कि तुम्हारी चोटी कहाँ चली गई; मुन्नन का यह उत्तर हमें सोचने के लिए विवश कर देता है—"वह तो बहुत पहले कट गई। अब मैं जीन्स अधिक पहनती हूँ। सभी कहते थे इस पर लंबी चोटी नहीं जँचती। सो कटवा दी।" यह कहानी आधुनिक बनने के प्रयास में प्रकृति प्रदत्त सौंदर्य को नकारने को दर्शाती है।

'भगत' संस्मरणात्मक कहानी है। यह भगत नामक व्यक्ति को केंद्र में रख कर लिखी गई है। भगत नाम उसे उसके भोले और सरल स्वभाव के कारण दिया गया था। वह पशुओं से भी बहुत लगाव रखता था। बीमार पशुओं की सेवा बहुत मनोयोगपूर्वक करता। यह संस्मरणात्मक कहानी ग्रामीण परिवेश का प्रामाणिक चित्रांकन भी करती है।

'टक्कर' संग्रह की एक और उल्लेखनीय कहानी है जिसमें ग्रामीण और शहरी मूल्यों के अंतर को स्पष्ट किया गया है। कहानी में ऊपरी तौर राधे बाबू की गाड़ी से वृद्ध व्यक्ति की टक्कर को दिखाया गया है। लेकिन वस्तुतः यह मूल्यों, विचारों और मान्यताओं की टक्कर के विषय में है।

'भगवती' कहानी में भगवती के माध्यम से लेखिका ने बहुत सफलतापूर्वक एक छोटी-सी घटना के माध्यम से हमारी प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सा का महत्त्व स्थापन किया है। साथ ही साथ भगवती के प्राकृतिक संसाधनों के प्रति विश्वास आदि को भी चित्रित किया है। यह भगवती की नदियों के प्रति आस्था ही थी जिसने उसे नाली का रुख नदी के विपरीत मोड़ने के लिए प्रेरणा दी।

'आखिर कब तक', 'समर्थ' तथा 'बड़ी बहन' संग्रह की अन्य उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। घर और बाहर दोनों ही परिवेश में महिलाओं को जिन मानसिक तनावों

को भोगना पड़ता है, ये कहानियाँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं। आखिर कब तक की सरिता, समर्थ की सुनीता तथा बड़ी बहन की माला—इन स्त्री पात्रों के माध्यम से कहानीकार ने नारी समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया है। निस्संदेह इसमें उसे सफलता भी मिली है।

'खो गया गाँव' संग्रह की शीर्षक और सबसे लंबी कहानी है। कभी गाँवों पर मुग्ध होते हुए कविवर पंत ने लिखा था—'अहा। ग्राम्य जीवन भी क्या है' और 'भारत माता ग्राम वासिनी' जैसी पंक्तियों लिखी थीं। लेकिन आज के गाँवों को देख कर कवि की इन पंक्तियों पर कोई भी प्रश्नचिह्न उठा सकता है। 'खो गया गाँव' कहानी में लेखिका ने गाँवों में घट रहे परिवर्तनों और बदलते जीवन मूल्यों को रेखांकित किया है। यह कहानी दिखाती है कि हमारे गाँव भी अब कितनी तेजी से भौतिकवाद के शिकार हो रहे हैं और वहाँ बहुत द्रुत गति से संस्कारों और जीवन मूल्यों का अंत हो रहा है। इस कहानी के मुख्य केंद्र-बिंदु कर्नल प्रताप सिंह हैं। कर्नल प्रताप सिंह की पूरी उम्र फौज की नौकरी करते हुए बीत गई। सदा अपने इलाके से अलग-थलग पहाड़ी या सीमावर्ती क्षेत्रों में रहे। फौज की नौकरी से अवकाश पाने के बाद प्रताप सिंह शहर में अपने पुत्र के पास रहने लगे। यहाँ मित्रों को गाँव के बारे में बातें करते देखकर उनकी इच्छा अपना गाँव देखने की हो आती है। प्रताप सिंह अपने गाँव किशनपुर जाते हैं। प्रताप सिंह के गाँव पहुँचने का वर्णन कहानीकार के शब्दों में द्रष्टव्य है—"प्रताप सिंह ने देखा किशनपुर सच में बदल गया है। पहले गाँव के बीच में बड़ा सा बरगद का पेड़ था। आते जाते यात्री यहाँ बैठा करते थे, एक कुआँ था, उस पर प्याऊ था, कितना ठंडा पानी था उसका और ऐसी हीं छाया थी बरगद की। xxx बरगद की जगह पर अब एक छोटा-सा बाज़ार बन गया था। बाज़ार में एक दुकान कंप्यूटर सिखाने की थी इसी पर पी.सी.ओ भी लिखा था। पहली दृष्टि में उन्हें गाँव बदला-बदला सा लगा।" अपने सम्बंधी जितूतू से मिलने क बाद उन्हें और दुःख हुआ। जितूतू का यह कथन उल्लेखनीय है—"अरे भाई अब क्या धरा है उन कहानियो में? हमने तो कई साल पहले ही कलर टी.वी. खरीद लिया था। हमारे बच्चे तो ज़्यादातर वी.सी.आर पर पिक्चर देखते हैं। एक से बढ़ के एक सीरियल देख लो। बालक आँखों से देखेंगे तभी कुछ सीखेंगे। कहने सुनने से कितना समझ में आता है?" इस प्रकार जितूतू ने बताया कि आजकल दादी-नानी से कौन कहानी सुनता है। प्रताप सिंह की मनःस्थिति को कहानी की अंतिम पंक्तियाँ बहुत खूबसूरती के साथ चित्रित करती हैं—"प्रताप सिंह आज दुःखी मन से लौट रहे थे। वे खेत, वे खलिहान, सावन के गीतों से गूँजते वे बगीचे, होली गीत गाते महिलाओं

के समूह, आने वालों को गले लगाने वाले वे ग्रामीण और वो सब कुछ जिसे देखने की ललक बरसों से प्रताप सिंह के दिल में पनप रही थी। अब नहीं था। उनकी स्मृतियों का वह गाँव जहाँ उनका बचपन बीता था, खो गया था।"

अंत में 'खो गया गाँव' संग्रह की कहानियों को पढ़कर कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ अपने समय के यथार्थ को तो प्रकट करती ही हैं साथ ही साथ ऐसे उदात्त ओर मानवीय चरित्रों को भी हमारे समक्ष उपस्थित करती हैं जो समाज के लिए प्रेरणास्रोत हैं। 'दीदी की शादी' कहानी की मीनाक्षी, 'पगली की वापसी' की विमला, 'झाड़ू' की मालती, 'हरी मिर्च' की रीता, 'भगवती' कहानी की भगवती आदि चरित्र अपने कार्य-व्यवहार से आदर्श उपस्थित करते हैं। कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ समाज-चित्र के साथ-साथ व्यक्ति-चित्र भी उपस्थित करती हैं।

अखिलेश कुमार शंखधर
सहायक प्राध्यापक

हिंदी विभाग
मणिपुर विश्वविद्यालय
कांचीपुर, इंफाल-795003
मणिपुर

दीदी की शादी

पोर से कोहनी तक मेंहदी रचे हाथ, कलाई में कौड़ी, छल्ला व मोतियों से सजा कंगना, ताजे धुले सुवासित केश और पूरे बदन में हल्दी, उबटन की महक ने दो ही दिनों में नीलू की काया पलट दी। वह रह-रह कर अपने हाथों-पैरों को देखती और उनकी निखरी कोमलता पर स्वयं ही आश्चर्यचकित हो उठती। घर में शादी की रौनक हर दिन बढ़ रही थी। पूरा दिन छोटी-छोटी रस्मों में बीत जाता। हर दिन नौन-राई वार कर नीलू की आरती उतारी जाती। रस्में थीं कि पूरी होने का नाम ही नहीं लेती थी। दूर-दूर से मेहमान इकट्ठा हो गये थे। पर नीलू की निगाहें दीदी को खोज रही थीं। दीदी उसके पास न होते हुए भी हर पल उसके साथ थी। नीलू की दीदी बरेली में एक इण्टर कालेज की प्रधानाचार्या है। आज उसके कालेज में प्रशासनिक अधिकारी को आना है। इसीलिये वह अभी तक नहीं आई। वह शाम से पहले पहुँच नहीं पायेगी। शीलू दीदी की याद करती हुए आँखें बंद कर लेट गई। दीदी की याद ने उसे बचपन की स्मृतियों में खींच लिया।

जब से नीलू ने होश सम्भाला तब से दीदी को माँ के रूप में देखा। दोनों बहनों में बारह साल के अन्तर ने दीदी को उसकी अभिभाविका बना दिया था। नीलू को स्कूल जाने का अपना वह पहला दिन तो याद नहीं जब दीदी उसे छोड़ने स्कूल गई और वह उसकी गोद से उतरी ही नहीं। पर माँ ऐसा ही बताती है। हाँ, एक-दो क्लास पास हो जाने के बाद की बातें खूब याद हैं। स्कूल में उत्सव हो, अध्यापिका ने अभिभावकों को बुलाया हो या पढ़ाई से संबंधित अन्य कोई समस्या हो सबको सुलझाने दीदी ही स्कूल पहुँचती थी। नीलू को याद नहीं कभी माँ या बाबूजी उसे स्कूल ले गये हों। दीदी अपनी पढ़ाई अच्छी तरह करती थी और छोटे भाई-बहनों को पढ़ाने का काम भी। दीदी और उसके बीच दो भाई थे। भाई कभी-कभी उदण्डता करते तो दीदी उनसे खफा हो जाती और फिर पूरा ध्यान नीलू

पर ही लगाती। दीदी का नाम मीनाक्षी है जो उसकी सुन्दर आँखों के कारण दादी ने उसे दिया और नीलू का नाम नीलिमा है जो उसकी नीली आँखों के कारण दीदी ने उसे दिया।

मीनाक्षी सामान्य कद-काठी, गौर-वर्ण और तीखे नाक-नक्श वाली थी। कुल मिलाकर अपनी जवानी में वह सुन्दर लड़कियों में गिनी जाती थी। पिता की पहली सन्तान होने से वह घर भर की चहेती थी और काफी दिनों तक माता-पिता की अगली सन्तान न होने से पिता ने उससे उम्मीदें भी खूब लगाई थीं। दो पीढ़ियों की उम्मीदों का केन्द्र दीदी अकेली थी। दादी चाहती थी कि पोती थोड़ा पढ़ना-लिखना सीख ले और फिर घर के कार्यों में निपुणता हासिल करे। वह दीदी को अपने जैसी सुघड़ गृहणी बनाना चाहती थी। अपनी गाने-नाचने, सिलाई-कढ़ाई और पाक कला की शिक्षा वह दीदी को तीन-चार वर्ष की उम्र से ही देने लगी थी। दादी जब गाती और दीदी मटक-मटक कर नाचती तो दादी उसपर मुग्ध हो जाती। फिर दीदी की नजर उतारे बगैर उसे रात में नींद न आती। हलुवे में आटे, घी और शक्कर की मात्रा क्या होगी, खीर के दूध में चावल कितना सेर डलना है, पकौड़ी के बेसन को कब तक फेंटना है जैसे पाक क़ला के ढेरों नुस्खे दादी ने मीनाक्षी को पाँच-छः वर्ष की उम्र तक रटवा दिये थे। वह चौके के बाहर बैठी माँ और चाची को हिदायतें दिया करती। उनके चूक करने पर तुरंत दादी को सूचना पहुँचा देती तब दादी का दुलार उस पर और बढ़ जाता था और दादी उसे चुपके-से खाने के लिए मेवा देती। बचपन में दीदी के लिये दादी से बड़ा दरोगा कोई न था। घर, स्कूल, खेल आदि में हुये सारे विवादों की खबर वह दादी को ही सबसे पहले देती।

चौदह की उम्र पार करते-करते मीनाक्षी का रूप निखरने लगा और दादी ने उसकी शादी की तैयारियाँ शुरू कर दी। यह प्रयास दादी का अकेले था। माँ-बाबूजी तो दीदी को उच्च शिक्षा तक ले जाना चाहते थे। वे उसे डाक्टर या बड़ा आफिसर बनाना चाहते थे। पर दादी का खुलकर विरोध करने का साहस उनमें नहीं था अतः दादी अपने प्रयासों में जुट गई और बाबूजी अपने। कितनी ही उच्च शिक्षित महिलाओं के किस्से बाबूजी दीदी को सुनाया करते और राजनीति, शिक्षा या विज्ञान में उनकी उपलब्धियों की चर्चा करते। धीरे-धीरे दीदी की उनमें रुचि बढ़ने लगी और वह पढ़ाई में मन लगाने लगी। उसके इण्टर के परिणाम ने बाबूजी में और आशाएें जगा दी। उन्होंने दीदी को आगे की पढ़ाई के लिये हॉस्टल भेज दिया। दादी उसके जाते समय कितनी रोई थी मानो उसकी पोती आज ही विदा हो

रही हो। तब बाबूजी ने दादी को यह कहकर शांत किया—"आप इसकी शादी की तैयारी करती रहें। साल-दो साल में अच्छा-सा लड़का देखकर शादी कर दी जायगी।"

दादी ने अपने बचाये पैसों से दीदी के लिये एक हार बनवाया था और अपनी चूड़ियाँ उसके लिये सम्भाल कर रख दी थीं। कुछ दिनों बाद दादी को ख्याल आया—लड़की की शादी में एक जोड़ा बड़ी पायजेब देना भी जरूरी है। तब उन्होंने घने घुंघरूओं और चौड़े पंखेवाली ठीक वैसी ही पायल जैसी बुआ को दी थीं, दीदी के लिये बनवाई। दादी घर, बाहर, रिश्तेदारी सभी जगह दीदी की शादी की चर्चा करती रहती। लड़का कैसा होना चाहिये? घर-द्वार कैसा हो? दहेज में क्या दिया जाना है और बारातियों का स्वागत कैसे होगा? दादी की बातों में इन्ही सब मुद्दों की प्रमुखता होती। वह जब भी किसी की बारात आती देखती उसमें सबसे पहले दूल्हा के रूप-रंग को परखती फिर बारातियों के सजने-सँवरने को आँकती और फिर बैंड, लाइट, नाच सबको बारीकी से निहारती। दादी की नजर में अभी तक कोई बारात पूरी तरह ऐसी न सजी थी जैसा स्वप्न वह दीदी की बारात का देखा करती थी। किसी में दूल्हा काला होता तो किसी का बैंड ठीक न होता, कहीं बाराती बेशहूर-से लगते और कहीं लाइट गड़बड़ा जाती। पूरी बारात का जायजा लेकर वह अपना फैसला देती—"बारात देखना हो तो तब देखना जब मेरी मीनाक्षी की बारात सजेगी। दूल्हा तो मैं खुद पसंद करूंगी।" तब दादी पिताजी, चाचा, भाइयों और न जाने कितने रिश्तेदारों की काल्पनिक ड्यूटियाँ बारात की देखभाल में लगा देती। तब पिताजी उन्हें आश्वासन देते—"माँ चिंता मत करो। समय आने दो सब काम आपकी मर्जी से ही होगा। अभी मीनाक्षी की उम्र ही क्या है थोड़ा और पढ़ ले।" मीनाक्षी की बी.ए. की अंतिम परीक्षा समाप्त हुई तो उस गर्मी की छुट्टी में दादी को पूरी उम्मीद हो गई कि वह अब जल्दी ही मीनाक्षी की बारात देख लेगी। उसने अपनी समझ से दो-तीन लड़के भी पसंद कर लिये। इस बार बाबूजी के—"लड़की थोड़ा और पढ़ ले।" वाक्य को भी उसने नकार दिया। मीनाक्षी छुट्टी में घर आई। दादी उसे बार-बार दुलारती और हॉस्टल की बातें चाव से सुनती।

इस हँसी-खुशी में तीन-चार दिन ही बीते थे कि दादी को दमे का दौरा पड़ने लगा। यह उसका पुराना रोग था। जो उम्र के बढ़ने और शरीर के कमजोर होने से धीरे-धीरे प्रबल हो रहा था। दादी अंग्रेजी दवाओं से परहेज करती थी और अपने देसी नुस्खे ही आजमाती थी। पर इस बार एक के बाद एक सब बेअसर हो रहे

रही हो। तब बाबूजी ने दादी को यह कहकर शांत किया—"आप इसकी शादी की तैयारी करती रहें। साल-दो साल में अच्छा-सा लड़का देखकर शादी कर दी जायगी।"

दादी ने अपने बचाये पैसों से दीदी के लिये एक हार बनवाया थां और अपनी चूड़ियाँ उसके लिये सम्भाल कर रख दी थीं। कुछ दिनों बाद दादी को ख्याल आया—लड़की की शादी में एक जोड़ा बड़ी पायजेब देना भी जरूरी है। तब उन्होंने घने घुंघरूओं और चौड़े पंखेवाली ठीक वैसी ही पायल जैसी बुआ को दी थीं, दीदी के लिये बनवाई। दादी घर, बाहर, रिश्तेदारी सभी जगह दीदी की शादी की चर्चा करती रहती। लड़का कैसा होना चाहिये? घर-द्वार कैसा हो? दहेज में क्या दिया जाना है और बारातियों का स्वागत कैसे होगा? दादी की बातों में इन्ही सब मुद्दों की प्रमुखता होती। वह जब भी किसी की बारात आती देखती उसमें सबसे पहले दूल्हा के रूप-रंग को परखती फिर बारातियों के सजने-सँवरने को आँकती और फिर बैंड, लाइट, नाच सबको बारीकी से निहारती। दादी की नजर में अभी तक कोई बारात पूरी तरह ऐसी न सजी थी जैसा स्वप्न वह दीदी की बारात का देखा करती थी। किसी में दूल्हा काला होता तो किसी का बैंड ठीक न होता, कहीं बाराती बेशहूर-से लगते और कहीं लाइट गड़बड़ा जाती। पूरी बारात का जायजा लेकर वह अपना फैसला देती—"बारात देखना हो तो तब देखना जब मेरी मीनाक्षी की बारात सजेगी। दूल्हा तो मैं खुद पसंद करूंगी।" तब दादी पिताजी, चाचा, भाइयों और न जाने कितने रिश्तेदारों की काल्पनिक ड्यूटियाँ बारात की देखभाल में लगा देती। तब पिताजी उन्हें आश्वासन देते—"माँ चिंता मत करो। समय आने दो सब काम आपकी मर्जी से ही होगा। अभी मीनाक्षी की उम्र ही क्या है थोड़ा और पढ़ ले।" मीनाक्षी की बी.ए. की अंतिम परीक्षा समाप्त हुई तो उस गर्मी की छुट्टी में दादी को पूरी उम्मीद हो गई कि वह अब जल्दी ही मीनाक्षी की बारात देख लेगी। उसने अपनी समझ से दो-तीन लड़के भी पसंद कर लिये। इस बार बाबूजी के—"लड़की थोड़ा और पढ़ ले।" वाक्य को भी उसने नकार दिया। मीनाक्षी छुट्टी में घर आई। दादी उसे बार-बार दुलारती और हॉस्टल की बातें चाव से सुनती।

इस हँसी-खुशी में तीन-चार दिन ही बीते थे कि दादी को दमे का दौरा पड़ने लगा। यह उसका पुराना रोग था। जो उम्र के बढ़ने और शरीर के कमजोर होने से धीरे-धीरे प्रबल हो रहा था। दादी अंग्रेजी दवाओं से परहेज करती थी और अपने देसी नुस्खे ही आजमाती थी। पर इस बार एक के बाद एक सब बेअसर हो रहे

थे। दीदी दिनभर दादी की सेवा में लगी रहती। कभी कुछ खिलाती तो कभी दवाऐं घोट-घोटकर पिलाती। पर एक दिन दादी हम सबको रोता-विलखता छोड़कर दीदी की शादी का अरमान मन में लिये ही इस दुनियाँ से विदा हो गई।

दादी के जाने के बाद मीनाक्षी के एकमात्र दिशा निर्देशक बाबूजी रहे। उन्होंने अपनी समझ से उसे प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने की सलाह दी। इसके लिये जो भी आवश्यक पुस्तकें थीं खरीदवा दी गई और वह घर के सबसे एकांत कमरे में अपनी मेज-कुर्सी जमाकर बैठ गई। माँ उसकी सुविधा का पूरा ख्याल रखती थी। मगर कुछ माह बाद ही दीदी ने प्रतियोगी परीक्षाऐं देने से इंकार कर दिया और एम.ए. में दाखिला ले लिया। गृहस्थ पर आर्थिक बोझ निरंतर बढ़ रहा था। दीदी को दो साल के लिये फिर हॉस्टल रहना था। छोटे भाई-बहनों का खर्च भी हर दिन अधिकता पर था। बड़ा भाई हाईस्कूल पास कर चुका था। बाबूजी अब उसके भाविष्य को लेकर भी चिंतित थे। दीदी ने अपना खर्च स्वयं उठाते हुऐ एम.ए. प्रथम श्रेणी में पास किया और उसको शीघ्र ही एक इण्टर कालेज में अध्यापिका का पद मिल गया। घर की आर्थिक तंगी के बाद भी बाबूजी चाहते थे कि मीनाक्षी अपनी पढ़ाई जारी रखे। इसीलिये उन्होंने उसे बी.एड. करने की सलाह दी। अध्ययन-अध्यापन दोनों को साथ चलाते हुये दीदी ने बी.एड. और एम.एड. की डिग्रियाँ प्राप्त की। बड़ा भाई पढ़ाई में कुछ अधिक हासिल न कर पाया। उसने स्नातक होने के बाद एक फैक्टरी में नौकरी कर ली। बाबूजी अब दीदी और भाई दोनों की शादी कर देना चाहते थे। वे अस्वस्थ रहने लगे थे। परंतु घर की आर्थिक तंगी को देखते हुये दीदी नहीं चाहती थी कि वह परिवार को संकट में छोड़कर ससुराल चली जाय। इसीलिये बाबूजी के सुझाए रिश्तों में वह खामियाँ ढूँढ़ लेती। कहीं लड़का ठीक नहीं तो कहीं नौकरी ठीक नहीं के बहाने बना लेती।

बाबूजी का सेवानिवृति का समय करीब आ गया और गृहस्थ की जिम्मेदारियाँ सुरसा की तरह मुँह फैलाये रहीं। तभी बाबूजी को एक झटका और लगा। बड़े भाई ने अपनी फैक्ट्री में कार्य कर रही एक गैर-जाति की लड़की से शादी कर ली। वह अलग रहने लगा। बाबूजी इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने उससे किसी भी प्रकार के संबंध न रखने की घोषणा कर दी। कुछ माह में ही इस दुःख ने उन्हें चारपाई पर बैठा दिया। बाबूजी ने अभी तक दीदी के पैसे को हाथ न लगाया था परंतु अब परिस्थितियों ने उन्हें दीदी का पैसा लेने को मजबूर कर दिया। घर का अधिकतर खर्च दीदी की तनख़्वाह से चलने लगा। बाबूजी की पेंशन तो न बराबर थी। छोटे

भाई-बहन भी हाईस्कूल पास कर चुके थे। बाबूजी दीदी व बच्चों के लिए कुछ और आय बनाये रखने के लिये चिंतित रहते। वे चाचा और अन्य रिश्तेदारों से दीदी की शादी की चर्चा करते। बहुत-से लड़के देखे भी गये पर दीदी के अनुरूप कोई न बैठा। एक रिश्ता लड़के की नौकरी रंगरूप सब मिलाकर ठीक भी लगा पर उसकी दहेज की माँग पूरी कर पाना बाबूजी के बस की बात न थी अतः वहाँ बात चलाने का साहस वे न जुटा पाये। हर दिन की इन चर्चाओं से दीदी इतनी ऊब गई थी कि उसने अपनी शादी की बातों पर ध्यान देना छोड़ दिया। भाई-बहन को खूब पढ़ाना और ऊँचे मुकाम तक पहुँचाना ही उसने अपना ध्येय बना लिया। वह उनके लिये अच्छे अध्यापक और साधन जुटाने का प्रयास करती। घर आती तो भाई-बहन की पढ़ाई और बाबूजी के स्वास्थ्य की विस्तृत जानकारी माँ से लेती। माँ के लिये अब दीदी ही सबसे बड़ी सलाहकार थी। बाबूजी के स्वास्थ्य का ख्याल करते हुये वह बहुत-सी बातों को उनसे कहती ही नहीं थी। दीदी पूरे धैर्य से परिवार भर की समस्याएँ सुनती और अपने पूरे प्रयास से उनको निबटाती। वह बाबूजी को बराबर आश्वस्त करती रहती कि वे किसी प्रकार की चिंता न करें। माँ या बाबूजी जब भी उसकी शादी की चर्चा करते वह जल्द ही चर्चा को यह कहकर समाप्त कर देती—“मुझे अभी आगे बढ़ना है। अब आप मेरी चिंता छोड़ दें।”

नीलू के स्नातक होने तक मीनाक्षी अपने कालेज की प्रधानाचार्या हो गई। पर इस खुशी को पूरा परिवार अच्छी तरह मना भी न पाया था कि न शाम बाबूजी गृहस्थ की नैया बीच धार में छोड़कर चले गये। सबके पास रोने के अलावा कुछ न रहा। माँ निराशा से भर गई और छोटे भाई-बहन पूरी तरह दीदी पर आश्रित हो गये। दीदी ने उन्हें बाबूजी से बढ़कर स्नेह दिया। वह माँ को भी चिंता मुक्त रखने का प्रयास करती।

नीलू तो अधिक न पढ़ सकी। एक वर्ष की तैयारी के बाद बैंक में क्लर्क की नौकरी मिल गई, पर छोटे भाई ने मेडिकल की परीक्षा पास कर ली। दीदी ने अपने ही दम पर उसकी पढ़ाई जारी रखी। थोड़े अन्तराल के बाद घर की हालत सुधरने लगी। नीलू अब माँ को आर्थिक मदद करने लगी थी। माँ की बूढ़ी आँखें एक बार फिर कन्यादान का स्वप्न देखने लगी। वह दीदी के लिये रिश्ते खोजने लगी। माँ चाहती थी कि मीनाक्षी अब शादी कर ले और नीलू कुछ वर्ष घर को सम्भालें। पर दीदी को यह मंजूर न हुआ कि उसके रहते गृहस्थ का भार नीलू पर आ जाए।

माँ एकदम कमजोर और बूढ़ी हो रही थी। उसने साहस जुटा कर दीदी की शादी का एक और प्रयास किया। पड़ौस के अंकल के किसी रिश्तेदार का बेटा था, वकील था और अच्छे परिवार का था। माँ ने पूरी तैयारी कर ली कि इस बार बेटी के आने पर वह लड़के वालों को बुलाकर रिश्ता पक्का कर लेगी। लड़के के टीके के लिये माँ ने सोने का सिक्का खरीद कर रखा और कुछ लोगों के भोजन की व्यवस्था कर ली। दीदी के आने पर तय कार्यक्रम के अनुसार लड़के वाले आये। दीदी को अनौपचारिक रूप से ही दिखाया गया। नीलू मेहमानों की सेवा में लगी थी। देखने की रस्म के बाद माँ ने उनका मन जानना चाहा पर जब उनका विचार सामने आया तो माँ की सारी खुशी दुःख में बदल गई । लड़के ने उसकी गौर-वर्ण बड़ी बेटी की जगह सामान्य रंग-रूप की छोटी बेटी को पसंद किया था। छोटी के उभरते यौवन ने उसे अधिक आकर्षित किया। बड़ी की उम्र ढलान पर थी अतः सुन्दर और अधिक कमाऊ होकर भी वह छोटी से पिछड़ गई थी।

माँ की आत्मा ने स्वीकृति न दी कि जिस बड़ी बेटी की शादी का ख्वाब वह पिछले दस वर्षों से देख रही थी उसको छोड़कर छोटी की शादी कर दे। माँ बच्चों से यह कहने का साहस भी न कर पाई। उसने इतना ही कहा—"यह रिश्ता भी हाथ से गया समझो।"

दीदी आहिस्ता-आहिस्ता चिड़चिड़ी और सख्त मिजाज होती जा रही थी। उसका विरोध करने की हिम्मत घर के लोगों में धीरे-धीरे खत्म हो रही थी। उसकी सहयोगी अध्यापिकाऐं कहती थीं कि अब वह कालेज में भी पहले जैसी हँसमुख नहीं रही है। छोटी-छोटी बातों पर बिगड़ जाती है और अकारण ही बहुत-सी बातों को बहुत लम्बा खींच देती है। वह अड़ियल और शंकालु भी हो रही थी। माँ में अब उसके समक्ष उसकी शादी की चर्चा करने का हौसला कम हो रहा था। भाई की पढ़ाई समाप्त हो गई थी। वह जब भी घर आता माँ से दीदी की शादी की बातें बूझता और माँ दुःखी मन से उसे निराशाजनक जवाब देती। अब बहुत-से रिश्तेदार भाई की शादी की सलाह देने लगे थे। उसके लिये काफी अच्छे घरों से रिश्ते भी आ रहे थे। लेकिन भाई ने जिद्द पकड़ ली थी कि वह तब तक शादी नहीं करेगा जब तक दीदी की शादी नहीं हो जाती है।

माँ दीदी और भाई की जिद्द के बीच लाचार होती गई। उसकी असहायता और शारीरिक कमजोरी दिनोंदिन बढ़ रही थी। वह अक्सर बीमार रहने लगी। अपनी बीमारी की अवस्था में एक दिन वह दीदी और भाई के समक्ष रोई और उन्हें

शादी के लिये मनाने का प्रयास किया। माँ के यह कहने पर कि दादी व पिताजी की तरह वह भी उन लोगों की शादी देखे बिना ही इस दुनियाँ से चली जायेगी। दीदी और भाई ने तय कर कहा—"आप नीलू की शादी कर लीजिए।'' माँ ने नीलू के समक्ष हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहा था—"कहीं तुम भी अपने भाई-बहन की तरह ना मत कर देना। मैं इस अभागे जीवन में अपने हाथों एक तो कन्यादान कर लूँ।" तब नीलू ने अपनी शादी की मौन स्वीकृति दे दी थी। माँ ने अपने संबंधों के आधार पर शीघ्र ही इस रिश्ते को तय कर लिया। यहाँ दहेज की बाध्यता नहीं थी। बस लड़की के गुणों पर रिश्ता तय हो गया। शादी की तारीख भी निश्चित कर ली गई। सब तैयारियाँ ठीक हो गई। बहुत-से रिश्तेदार जो इस घर में लम्बे समय से किसी शादी के इंतजार में थे, मदद के लिये आगे आये। माँ ने उन्ही के सहयोग से सब जुटाया। आज सब खुश हैं। शादी के रंग में मस्त हैं। घर में बार-बार लोकगीतों और लोकाचार के स्वर गूंज उठते हैं। पर नीलू यहाँ सबसे अलग एकांत कोने में अतीत में खोई है।

"नीलू उठो तैयार होने का समय हो गया।" नीलू ने आँखें खोली शायद वह सो गई थी, या वह स्वप्न देख रही थी या फिर अतीत में खोई थी। जो भी था वह सब दुःखद ही था। नीलू के जीवन में बीत गये उन दिनों को छोड़कर जब वह दीदी की उँगली पकड़कर घूमती थी। या दीदी को दादी की गोद में लेटा देखकर खुद दौड़कर माँ की गोद में चढ़ जाती थी या जब वह बड़े भाई या बाबूजी के साथ बाजार घूमने निकल जाती थी और मनचाही मिठाई खरीद लेती थी, शेष कष्टदायक ही रहा। उस अतीत के दुःखों का सारा निचोड़ आज इस खुशी के मौके पर भी उसके रोम-रोम में टीस पैदा कर रहा है।

नीलू की मौसेरी बहन जिसकी, साल भर पहले शादी हुई थी उसे कंधा हिलाकर जगा रही थी। नीलू बैठ गई कुछ ही देर में उसका शादी का जोड़ा, गहनें और साज-सँवार का सामान इकट्ठा कर दिया गया। नीलू नहाई और उसे सजाने का काम शुरू हो गया। नीलू और घर के सभी लोग बारात की अगवानी की तैयारी कर रहे थे। तभी बाहर गाड़ी की आवाज सुनकर बच्चे—"दीदी आ गई, दीदी आ गई" कहते बाहर दौड़े।

मीनाक्षी सीधी नीलू के पास पहुँचकर उसके गले लग गई। फिर उसकी तैयारी में हाथ बँटाने लगी। आज वह अपनी नन्हीं-सी बहन को जिसे उसने हर दिन बढ़ते देखा था दुल्हन के रूप में सजते हुए देख रही थी। बारात आई। शादी

की रस्में शुरू हुई। घर आये मेहमानों ने माँ को खूब बधाई दी। सुबह विदाई का समय आ पहुँचा। माँ नीलू का बक्सा तैयार कर रही थी। साथ ही उसे समझा रही थी कौन कपड़ा कब पहनना है और क्या सामान किसको देना है।

जब विदाई का समय आ गया और नीलू पूरी तरह तैयार हो गई तो दीदी ने आकर उसके गले में हार पहना दिया और हाथों में चूड़ियाँ। यह वही हार और वे ही चूड़ियाँ थीं जो मीनाक्षी की मात्र पन्द्रह वर्ष की अवस्था में दादी ने उसके लिए सहेजकर रखी थीं। दादी, पिताजी और माँ ने कितने ख़्वाब देखे थे जिनमें मीनाक्षी दुल्हन बनी इन चीजों को पहने रहती थी। उनके ख़्वाब पूरे न हो सके। पर आज मीनाक्षी का ख़्वाब पूरा हो गया था। वह अपनी प्यारी बहन को अपने हाथों विदा कर रही थी। मीनाक्षी ने डिब्बे से घने घुंघरूओं और चौड़े पट्टे वाली पायल निकालकर नीलू को पहना दीं। दीदी जैसे ही पायल पहनाकर उठी, नीलू उसके गले लगकर फूट-फूट कर रो पड़ी।

ये दो बहनों की जुदाई के आँसू थे या खुशी के या फिर नीलू के मन में गहरे बैठा वह शोक अपने पूरे वेग से बाहर आ रहा था जिसमें वह कुछ हद तक स्वयं को भी दीदी की शादी न हो पाने का दोषी मान बैठी थी।

पगली की वापसी

विमला मात्र 15 वर्ष की थी जब वह दुल्हन बनकर सुसराल आई। उसकी सुसराल में बहुत छोटा सा परिवार था। वह उसकी बूढ़ी सास दुलारी और उसका पति किशोर । विमला लम्बे कद, चुस्त बदन और गेहुएं रंग की युवती थी। सामान्य नाक-नक्श वाला उसका चेहरा सदैव मुस्कान भरा रहता था । इसी सबसे वह आकर्षक दिखती थी। उसमें जीवन के प्रति उत्साह तथा गृहस्थ संभालने की लगन थी। अतः बहुत कम समय में ही उसने गृहस्थ का पूरा दायित्व संभाल लिया। दुलारी जिसने अपने पूरे जीवन कष्ट ही उठाये थे। विमला के स्वभाव और कार्य कुशलता से अत्यधिक प्रसन्न थी। उसने अपना ध्यान ईश्वर भक्ति की ओर लगाना प्रारंभ कर दिया। कभी-कभी उसे अपना अतीत याद आता था। किशोर के पिता का देहांत मात्र 35 वर्ष की अवस्था में हो गया था। तब किशोर केवल दस वर्ष का था। उसकी परवरिश के लिये दुलारी ने क्या-क्या नहीं सहा? बड़े प्रयासों से एक स्कूल में उसे चतुर्थ श्रेणी की नौकरी मिल पाई। यही मां बेटे की जीविका का आधार था। उसके लाख प्रयासों के बाद भी किशोर पढ़ न पाया। अतः उसने गली में एक छोटी सी दुकान खोल ली। भाग्य ने साथ दिया और किशोर की दुकान चलने लगी। आज दुलारी बहुत खुश है। शायद उसने जीवन में इतने सुख की कल्पना भी नहीं की थी कि उसका छोटा सा परिवार एक दिन सब बाधाओं को पार कर सुख का किनारा पा लेगा। आज वह ईश्वर को लाख-लाख धन्यवाद देती है। जिसने उसके अतीत के दुःखों का अंत किया।

जहां से दुलारी के दुःखों का अंत हुआ वहीं से विमला के दायित्वों का प्रारंभ। विमला ने गृह कार्य के साथ-साथ परिवार के अन्य दायित्वों को भी संभाल लिया। पांच वर्ष में उसे तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई। यहां तक सब अच्छा व सुखकर था। धीरे-धीरे विमला के जीवन में परिवर्तन होने लगा। पति को न जाने कब पीने

की लत लग गई। वह रात में देर से घर आता और अधिकतर अस्वस्थ रहता। विमला यह सब अपने पर बर्दाश्त करती रहती। वह सास को इस सबका एहसास न होने देती। वह अकेली ही बच्चों को संभालती, बूढ़ी सास की सेवा करती और सारे दायित्वों को निबाहती रहती। विमला पति की कमजोरियों को बर्दाश्त करती और परिस्थितियों को सामान्य बनाये रखती। इसी बीच न जाने कब शारीरिक कमजोरी ने उसे घेर लिया। वह दिनों दिन चिड़चिड़ी और असंतुलित होने लगी। इसी समय विमला की सास भी चल बसी। अब उसके दिल का बोझ बांटने वाला कोई न रहा। किशोर मन-मरजी से घर आता, घर जरा भी अस्त-व्यस्त देखकर गुस्सा करता और अपना सब कार्य समय पर पूरा चाहता। दुकान पर समय से न बैठने के कारण वहां आय में भी कमी होने लगी।

विमला का स्वभाव पहले से बदलने लगा। वह चिड़चिड़ी और गुस्सैल हो गई। कभी-कभी वह अपना संतुलन खो देती थी। इस अवस्था में वह घर की चीजों को उठाकर पटक देती, बच्चों को पीटती और स्वयं भी दुःखी रहती। किशोर जो स्वयं हर जिम्मेदारी से कतराता था, विमला से यही चाहता था कि वह सदैव कर्मठ और आज्ञाकारिणी बनी रहे। फिर उसे विमला का यह क्रोध कैसे बर्दाश्त होता? अतः बैगर परिवार के विषय में सोचे अचानक उसने फैसला कर लिया कि विमला को पागल खाने भेज दिया जायें। विमला नहीं जानती थी कि उसके साथ क्या होने वाला है। उसकी कमजोरी और बीमारी का इलाज कराने के बहाने किशोरी उसे पागलखाने ले गया और वहीं छोड़ आया। बेचारी अनपढ़ विमला पागलखाने या सामान्य अस्पताल में अन्तर न कर पायी और वहीं रह गई। कुछ दिनों के साधारण उपचार के बाद विमला पूर्ण स्वस्थ हो गई अब उसे घर भेजा जा सकता था। पागलखाने के अधिकारियों के द्वारा बार-बार पत्र व्यवहार करने पर भी न पत्र का उत्तर मिला और न कोई उसे लेने आया। विमला बहुत दिनों तक रोई, तड़पी और बचैन रही। उसे रह-रहकर अपने बच्चों की याद आती। उसे बार-बार लगता कि उसके बच्चे कष्ट में है। वह उन्हें पाना चाहती थी। वह अपने परिवार में लौट जाना चाहती थी। मगर किशोर द्वारा दिये गये पते में संदेह होने के कारण विमला को घर न भेजा जा सका और किशोर को उसे लेने न आना था न वह आया।

समय ने विमला की घर की याद को धुंधला कर दिया और कब और कैसे वह पागलखाने को ही अपना घर समझने लगी यह एहसास उसे स्वयं भी न हो पाया। पता भी न चला कि वह कब मरीज से परिचारिका बन गई और पागलखाने की एक सदस्य बन गई।

नये आये मरीजों को धैर्य से संभालना, किसी के अस्वस्थ होने पर रात-रात भर बैठकर उसकी सेवा करना, मरीजों को नहलाना, खिलाना, दवा देना और उनकी सुख-सुविधा का ख़्याल रखना यही विमला की दिनचर्या हो गई। उसे स्वयं के लिये भी कुछ करना है, किसी को उसकी भी देखभाल करनी चाहिए ये ख़्याल कभी उसके मन में भी न आते थे। दूसरे मरीजों को उसकी सेवा की आवश्यकता है, वह केवल इसी एक पक्ष पर विचार करती थी। विमला जब यहां आई तो 40 वर्ष की थी आज वह 50 की उम्र पार कर चुकी है। इतना समय उसने कैसे और किसके लिये बिताया इसका उसे कोई मलाल नहीं। अब तो वह पूर्ण रूप से स्वयं को इसी वातावरण में ढाल चुकी है। परिवार और बच्चों की याद उसके लिये स्वप्न की भांति है। आज उसे उन बातों से न कोई मोह है, न गिला, यहां तक कि अब उसे किसी से मिलने की कोई लालसा भी शेष नहीं है।

अस्पताल में नई आई कमला कुछ ज्यादा ही उदंड है। वह खाना उठाकर फेंक देती है, अनाप-शनाप बकती है और परिचारिकाओं की पिटाई तक कर देती है। इसकी सुश्रुषा की जिम्मेदारी विमला को दी गई क्योंकि धैर्य से उसको संभालना और दवा देना वहीं कर पाती थी। शेष कर्मचारी उसके पास जाने से कतराते थे। कमला ने प्रेम विवाह किया था। विवाहोरांत उसे पति के अन्यंत्र संबंधों का पता चला और इसी सदमें में उसका दिमाग खराब हो गया। वह पति के प्रति घृणा से भरी थी। अतः पुरुषों को देखते ही अभद्र शब्दों की बौछार करती थी यदि कोई उसे रोकता-टोकता तो जो हाथ लगता उठाकर मार देती। विमला ने बहुत स्नेह से उसे नियंत्रित किया। उसकी सेवा से वह काफी ठीक भी हो गई। वह अब विमला को अपनी मां जैसा मानती थी और कभी-कभी उसके सामने बच्चों की भांति फूट-फूट कर रोने लगती थी।

एक सुबह विमला कमला के कार्यों में व्यस्त थी कि चौकीदार ने आकर बताया "दीदी आप से कुछ लोग मिलने आये हैं।" विमला को अपने कानों पर विश्वास न हुआ वह यह सोच भी नहीं सकती थी कि इस संसार में कोई उससे मिलने की इच्छा रखता है। वह अवाक चौकीदार की ओर देखती रही। चौकीदार ने पुनः जोर से कहा "विमला दीदी आपके परिवार के कुछ लोग आपसे मिलने आये है।" इस बार विमला के मुंह से निकला– "मेरे परिवार के?" चौकीदार " हाँ आपके परिवार के।"

विमला उठी और भावशून्य सी चौकीदार के पीछे चल पड़ी। गेट के पास

जाकर उसने देखा एक नौजवान एक युवती और छोटे-छोटे दो बच्चे उसकी प्रतीक्षा में खड़े हैं। युवक ने आगे बढ़कर विमला के चरण स्पर्श किये। युवती ने भी और फिर बच्चों ने भी। विमला भाव विह्वल हो उठी। उसके मुँह से एक भी शब्द न निकला। उसने आर्शीवाद में दोनों हाथ उठाये और पुत्र से लिपट कर फूट-फूट कर रोने लगी। इतने वर्षों बाद भी मां की ममता ने स्पष्ट पहचान लिया था कि यह उसका मंझला बेटा किशन है। आठ बरस का वह भोले-चेहरे और हल्के बदन वाला किशन अब गठीले बदन और आकर्षक चेहरे वाला युवक बन गया था।

किशन ने मां से अपने साथ चलने का आग्रह किया। मगर विमला अब पागलखाने की दुनिया से भी अन्तरात्मा से जुड़ चुकी थी और इसे छोड़ना नहीं चाहती थी। परन्तु बेटे के आग्रह के सामने ममत्व को झुकना पड़ा और विमला ने बेटे-बहू के साथ जाना स्वीकार कर लिया।

विमला की विदाई किसी साधारण मरीज की विदाई न थी। वह तो इस संस्था का अंग थी। मरीज हो या कर्मचारी सभी को उसका जाना दुःखकर था विशेष रूप से कमला जिसको उसने सबकी दुत्कार के बीच मां का प्यार दिया था। वह रो-रो कर उसका आँचल पकड़ रही थी और रूकने का आग्रह कर रही थी। विमला ने उसे दुलारते हुये शीघ्र मिलने आने का वायदा किया।

मां को साथ लिये किशन घर आया। तीन कमरों का छोटा सा घर था। मगर बेटे बहू ने पहले से ही उसकी सुविधा की वस्तुएं जुटा कर रखी थी। उसका पलंग, कपड़े, पूजा का सामान सब कुछ। मानो ये वस्तुएं उसके आने की प्रतीक्षा ही कर रही थीं। विमला ने घर आकर एक अवर्णित सुख का एहसास किया। उसे ऐसा लगा मानों बचपन में जो सुख और सुरक्षा मां की गोद में मिलती थी वैसा ही आनन्द आज मिला है। दोनों पौत्र—सोहन व मोहन बहुत खुश थे। आज उन्हें परिवार में एक ऐसे सदस्य की प्राप्ति हुई थी जिससे वे अपने मन की बात कह सकते थे। अपनी बात मनवा सकते थे, किस्से और कहानी सुन सकते थे और उसके साथ खेल सकते थे। दोनों बार-बार दादी के पास आ रहे थे और घर की चीजों से उसका परिचय करा रहे थे, मानो वह उनकी हमजोली हो। बहू शीला भी सास की सुविधाओं के प्रति सजग थी और मधुरता के साथ ही सुविधाओं का ख़्याल रख रही थी।

रात्रि में खा-पीकर जब सब निवृत्त हुये तो किशन आकर मां के पास बैठ गया। बहू बच्चों को सुलाने चली गई। विमला ने अतीत के पन्ने पलटने चाहे।

उसने किशन से कहा बेटा मैंने तुम्हें कब, कहां, क्यों और किस हाल में छोड़ा मैं नहीं जानती। मुझे बस इतना याद है कि परिवार में हम पांच सदस्य थे। मैं, तुम तीन भाई और तुम्हारे पिता। तुम तीनों की शक्ल धुंधली सी याद रही, शेष कुछ नहीं।''

किशन बोला ''मां तुम्हे छोड़कर जब पिता जी घर लौटे तो छोटे भाई को बुखार था। हम यही जानते थे कि तुम लौटकर आओगी। मगर तुम्हें न पाकर उसकी तबियत और बिगड़ गई तथा एक सप्ताह के ज्वर में ही उसकी मृत्यु हो गई। हम दोनों भाई घर का कार्य करने का प्रयास करते थे। कभी-कभी खाना बनाने में पिता जी सहायता करते, मगर वे अधिकतर घर देर से आते और बगैर खाये ही सो जाते। उनका चेहरा पीला व शरीर अत्यधिक कमजोर हो गया। एक दिन अचानक उनकी तबियत बहुत खराब हुई और अस्पताल में उनकी मृत्यु हो गई। अस्पताल वालों ने ही उनका दाह संस्कार किया। हम बिल्कुल अकेले रह गये। पड़ोसी दादा ने हमे अनाथ आश्रम भिजवा दिया। वहां बड़े भाई का साथ कुछ बड़े बच्चों से हुआ और एक दिन मुझसे शीघ्र आने का वायदा कर रात में चार साथियों के साथ चला गया। उसने मुझे भी वहां से शीघ्र ले जाने का आश्वासन दिया था पर आज तक लौट कर न आया।''

किशन एक सांस मे ही यह सब कह गया, मानों वह इसी इंतजार मे थां कि कोई उसकी कहानी सुने। कुछ देर रूककर उसने फिर कहना शुरू किया। विमला ध्यान लगाये चुपचाप उसकी कहानी सुन रही थी। बीच-बीच में वह लम्बी सांस लेती, जो उसके दिल में दबे गहरे दुःख को व्यक्त कर रहा था। किशन ने आगे कहा, ''अनाथ आश्रम के दस वर्ष मैंने किस पीड़ा में बिताये, कहना नहीं चाहता। सुनकर मां तुम्हें कष्ट ही होगा। बस इतना अच्छा रहा कि मैं वहां अपनी पढ़ाई जारी रख सका। उसके लिये खर्च बराबर मिलता रहा। मुझे बीए पास कर, प्लास्टिक का सामान बनाने की इस फैक्ट्री में नौकरी मिल गई। यह घर भी फैक्ट्री का दिया हुआ है। शीला (पत्नी) भी अनाथ आश्रम में पली है। हमारी बहुत इच्छा थी कि एक बार आपसे व बड़े भाई से मिल सके।''

किशन की कहानी समाप्त हो जाने पर विमला ने बोलना प्रारंभ किया।

''बेटा जब तुम्हारे पिता मुझे छोड़कर आए तो मुझे ऐसा लगा कि कुछ उपचार के बाद मैं घर लौट जाऊंगी। उस समय परिवार व बच्चों को छोड़ने का मुझे विशेष कष्ट न हुआ। शायद ऐसा मेरे मानसिक विकार के कारण हो। मगर

जैसे-जैसे मेरी चेतना लौटी, पीड़ा बढ़ने लगी। मुझे घर व बच्चों की याद सताने लगी। मगर मैं मजबूर थी मुझे न अपने घर का पता याद था, न पति का नाम। तुम्हारे पिता द्वारा दिये गये पते पर डाले गये पत्रों का जब कोई जवाब न मिला तो पागलखाने वालों ने उसे जाली समझा—और मैं वहीं रह गई। विमला ने गहरी सांस भरकर आगे कहा—''तब से हर दिन मैंने अपने परिवार की याद में और अपने जैसी मजबूर औरतों की जिंदगी संवारने में लगाया है। आज ईश्वर ने मेरी इच्छा पूरी कर दी। आज जो सुख मिला है, अतीत के दुःखों को जीतने के लिये काफी है।''

किशन ने बताया कि पागलखाने के चौकीदार के माध्यम से ही वह मां को पा सका। उसके साथ फैक्ट्री में चौकीदार का ममेरा भाई कार्य करता है। पिछले माह चौकीदार उससे मिलने आया। उसके भाई ने मेरा परिचय उससे कराया और मेरी दुःख भरी कहानी भी सुनाई। चौकीदार ने बताया कि उसके यहां इस कद-काठी की एक महिला है।'' फिर फोटो देखकर चौकीदार ने विश्वास से कहा था ''आपकी मां हमारे यहां है।'' ''उसकी जमानत पर आपको हमारे साथ भेजा गया है।'' इतना कहकर किशन आंखे बंद कर मां की गोद में सिर रखकर लेट गया। मां स्नेह से उसका सिर सहलाने लगी और अनजाने ही दोनों की आँखों से अश्रुधार बह निकली।

मेरी बेटी

बैंड-बाजा, नाच-गाना, खाना-पीना, हँसी-मजाक और ढेरों रस्मों-रिवाज के साथ रीना की शादी सम्पन्न हुई और अन्त में विदाई की गमगीन घड़ी आ गई। नव-विवाहित जोड़े को नये पलँग पर बैठाया गया। वे रिश्तेदारों और इष्ट मित्रों से घिरे थे। सब बारी-बारी से आकर नवदम्पति को आशीर्वाद दे रहे थे। रीना की बहनें और सखियाँ उसके और करीब सिमट आई थीं। तभी किसी बुजुर्ग ने विदाई कर देने को कहा। मुकेश और रीना को उठाया गया। रीना घर की महिलाओं से विदाई ले रही थी। कुछ महिलाएँ टूटते-बिखरते स्वर में विदाई गीत गा रही थीं। दादी, चाची, मामी, मौसी के बाद रीना माँ के गले लगी तो वहाँ से हटने का उसका मन न हुआ। जब मामा रीना का हाथ पकड़कर दरवाजे की ओर ले जाने लगे तो कुसुम को लगा कि इस समय उसकी बेटी अलग नहीं हुई है वरन् उसके दिल से टूटकर कुछ अलग हो रहा है। वह बाहर तक बेटी को विदा करने आई। नये जोड़े को नई गाड़ी में विदा कर दिया गया। कुसुम देर तक दूर जाती गाड़ी को अपलक देखती रही। फिर कुछ देर बेसुध सी बैठ गई। सब उसे ढाढ़स बँधा रहे थे और कुछ देर में उसे भी अहसास होने लगा कि बेटी को तो एक-न-एक दिन विदा करना ही पड़ता है। कुछ समय बाद कुसुम दूसरे मेहमानों की विदाई में व्यस्त हो गई। शाम तक वह इतनी थक गई कि उसे देर रात तक नींद न आई और सुबह बहुत ही अलसाई सी उठी। अधखुली आँखों से ही उसने नित्य के अभ्यास से आवाज लगाई, ''रीना, रिया, रोहण उठो बेटा दिन निकल आया।'' बाहर बैठे लोग जोर से हँस पड़े। कुसुम को अपनी गलती का एहसास हुआ। वह उठी और अपनी दिनचर्या में व्यस्त हो गई।

दिनभर में अनजाने ही कितनी ही बार कुसुम का दिल भर आया। नाश्ता वनाते, खाना खाते और बच्चों को खिलाते हुए, उसे बार-बार रीना की याद आती

रही। उसने सोचा, पता नहीं क्या कर रही होगी। ठीक से खाया भी या नहीं। वह मेरे बगैर खाती ही कहाँ थी? एक दो बार कुसुम को रोना भी आया, पर यह सोचकर स्वयं को नियंत्रित कर लिया कि यह शुभ नहीं। बेटी हँसी-खुशी अपने परिवार में रहे, यही अच्छा है। बस मुझसे मिल जाया करे। कुसुम की बहन उसकी उदासी को देख रही थी। वह समझाने लगी, "दीदी! यूँ मन दुःखी न करो। रीना तो किस्मत वाली हैं जो इतने बड़े घर में गई है। फिर कौन दूर है, जब चाहे घंटे भर को आ सकती है। आपका दिल चाहे तो आप भी मिलने जा सकती हैं।"

कुसुम बोली, "हाँ कल तो आ ही जायगी। उसके आने पर कथा भी सुननी है।"

कुसुम बहन की सलाह और सहायता से रीना की ससुराल भेजे जाने वाले सामान की तैयारी करने लगी। अगले दिन रोहण, रिया, उनके चचेरे-मौसेरे भाई-बहन और चाचा रीना को लिवाने चले गये। कुसुम रीना के आने का बेताबी से इंतजार करने लगी। रीना ठीक समय पर ही आ गई। घर खुशी से भर गया। बच्चे बढ़-चढ़कर रीना की ससुराल की बातें सुन रहे थे। कोई खाने की तारीफ कर रहा था तो कोई वहाँ के लोगों की बातों पर हँस रहा था। रीना की ससुराल से बच्चों के लिए फल, कपड़े और मिठाई आई थी। सब बारी-बारी से उन्हें देख रहे थे। मौसी रीना से उसकी ससुराल के रीति-रिवाज के बारे में बातें कर रही थीं। रीना दो दिन में वहाँ जो भी समझ पाई बता रही थी। कुसुम ने कमरे में आते हुए रीना की आवाज सुनी, "मम्मीजी"। कुसुम को लगा कि वह उसी से कुछ कहना चाहती है पर उसकी बहन ने बताया कि वह अपनी सास के विषय में बात कर रही है।

कुसुम को एक झटका सा लगा। उसने कहा, "हाँ, मैं तो मम्मी हूँ अब तो यह मम्मीज़ी वाली हो गई हैं।" इसी के साथ रीना और उसकी मौसी की बातें समाप्त हो गईं। दोनों अपने-अपने काम में व्यस्त हो गई। शाम को रीना सहेलियों से मिलने चली गई।

कुसुम ने अपने पति भानू प्रसाद को पण्डितजी से कथा का कोई शुभ दिन देखने और कथा करने के लिये बुला लाने को कहा। पास ही खड़ा रोहण बोला, "कोई दिन नहीं कथा कल ही करानी होगी। परसों दीदी चली जाएँगी। वे लोग परसों सुबह ही लिवाने आ जायँगे और तुरन्त ही लौटेंगे भी।" कुसुम गुस्से से बोली, "ऐसे कैसे तुरन्त लिवा ले जाएँगे? कल कोई पण्डित न मिले तो क्या बेटी को कथा सुने बगैर ही विदा कर दिया जाएगा?" भानू जी ने कुसुम को समझाने

का प्रयास किया, "शांत रहो। अब बेटी पराई हो गई है। जैसा वे चाहें वैसा ही कर लेने में हर्ज क्या है? उनकी खुशी में ही हमारी बेटी की खुशी है। मैं अभी पण्डितजी को कह आता हूँ वे कल ही कथा कर देंगे। आते हुए मैं सामान भी लेता आऊँगा। तुम लोग सुबह जल्दी निवट लेना बस।" कुसुम अनमनी-सी बोलती रही, "हाँ-हाँ, सब ठीक है। अब मेरा उस पर अधिकार ही क्या है? फिर मुझे उससे कौन-सा काम कराना है एक दिन रहे तब और दस दिन रहे तब बराबर है।" कुसुम की बहन उसे समझाती रही और भानू पण्डित जी के पास चले गये।

तीसरे दिन सुबह ही रीना की ससुराल से विदा कराने वाले आ गये। कुसुम ने रात में ही सब तैयारियाँ कर दी थीं। रीना के जाते समय भानू ने अगली विदाई का समय जानना चाहा तो मुकेश के भाई ने बताया कि अभी तीन दिन बाद ये लोग घूमने जाएँगे। करीब पन्द्रह दिन का कार्यक्रम है और लौटकर एक दिन घर में पूजा रहेगी। उसके बाद आप विदा करा सकते हैं।" कुसुम सब चुप सुनती रही कुछ न बोली।

दो दिन में सब मेहमान चले गये। रिया अपने हॉस्टल लौट गई। भानू और रोहण सुबह काम पर निकल जाते और रात होने तक लौटते। कुसुम स्वयं को खूब व्यस्त रखने का प्रयास करती पर अकेले उसे घर काटने को दौड़ता। उसे हर समय रीना की कमी खलती। जिस दिन फोन पर उससे बात हो जाती वह दिन काटना और मुश्किल हो जाता। वह बार-बार स्वयं को समझाती कि प्रभु ने बेटी को अच्छा घर-वर दिया है और उसे भी एक बड़ी जिम्मेदारी से निवृत कर दिया है, पर न जाने क्यों उसे रह-रहकर लगता कि उसका एक बड़ा अधिकार किसी ने छीन लिया है।

करीब बीस दिन बाद रीना मायके आई। कुसुम और उसके करीबी रिश्तेदार उसके आने का इंतजार कर रहे थे। बहुत से रिश्तेदारों और मित्रों के फोन कुसुम को आये दिन आते रहते थे, जिनमें वे मुकेश और रीना को अपने घर आने व खाने का निमन्त्रण देते। कुसुम सभी से उन्हें भेज देने का वायदा करती रही। उसे स्वयं भी रीना की शादी की मनौती पूरी करनी थी। पर रीना के आने के साथ ही उसकी वापसी का संदेश भी कुसुम को मिल गया। तीन दिन बाद दामाद बेटी को लिवाने आ गये। बमुश्किल कुसुम अपनी मनौती पूरी कर पाई। रिश्तेदार मुकेश और रीना का इंतजार ही करते रह गये। मुकेश रीना को यह कहकर ले गये कि उनके फुफेरे भाई की शादी है और बुआ का आग्रह है कि रीना उसमें जरूर शामिल हो।

मुकेश की नौकरी बाहर थी और रीना पास के एक कस्बे में डिग्री कॉलेज में पढ़ाती थी। दोनों की छुट्टियाँ समाप्त हो गई। वे अपनी पूर्व दिनचर्या में लौट गये। अन्तर केवल इतना था कि रीना की प्रतिदिन की यात्रा एक घंटा और बढ़ गई। अब उसे बस पकड़ने के लिए रिक्शे से बस अड्डे तक आना पड़ता था। मायके का घर बस अड्डे के पास होने से यह समय बच जाता था। अब वह माँ का बनाया टिफिन नहीं ले जाती थी वरन् स्वयं बनाकर ले जाती थी। कभी कोई उसका नाश्ता तैयार कर देता तो रीना को राहत मिलती। सब सुखों के बीच रीना को माँ के हाथ के बनाये खाने की याद आती और वह बहुत बार बस से उतर कर माँ के पास चली जाती। पर इतनी जल्दी में रहती कि माँ अपनी बात पूरी भी न कर पाती और वह जाने को बेचैन हो जाती। माँ का दिल चाहता कि वह कुछ देर और रुके पर रीना ससुराल में शिकायत का मौका देना या अभद्रता करना नहीं चाहती थी। वह माँ को समझाने की कोशिश करती और शीघ्र चली जाती।

सबसे अधिक मुश्किल त्योहारों पर होती। कुसुम ने रीना की पैदाइश से अभी तक रीना के बगैर कोई त्योहार न मनाया था। जब से रीना बड़ी हुई त्योहारों पर उसकी विशेष भूमिका रहती थी। माँ सब काम उसकी सलाह से करती। पापा दिन में कितनी ही बार उसका नाम पुकारते और छोटे भाई-बहन दीदी की मदद से घर सजाते। कुसुम का मन होता कि कम से कम त्योहारों पर तो रीना को उसके साथ होना चाहिए। रीना का मन भी माँ के साथ त्योहार मनाने को करता। पर मुकेश का आदेश होता कि वह त्योहार उसकी माँ के साथ मनायें। बाद में यदि समय रहे और माँ का आदेश हो तो वह मायके जा सकती है। किसी-किसी त्योहार पर वह चली भी जाती। लेकिन तब तक त्योहार का मुहूर्त निकल चुका होता और कुसुम का उत्साह ठण्डा पड़ गया होता।

धीरे-धीरे कुसुम को रीना की अनुपस्थिति का अभ्यास होने लगा। मगर जैसे ही वह सुनती कि किसी की बेटी अपने मायके आई है तो उसका दिल विद्रोह से भर जाता। वह सोचती, "मैंने बेटी को पैदा किया, पाला, पढ़ाया और आज मेरा ही उस पर कोई हक नहीं। मैंने तो कभी किसी के बेटे पर ऐसा अधिकार नहीं जमाया। फिर मेरी बेटी पर उसके ससुराल वालों का इतना हक क्यों?" भानू कुसुम को धीरज रखने और स्वयं को व्यस्त रखने की सलाह देते। कुछ लोग रोहण की शादी कर लेने को कहते।

एक दिन रीना की ससुराल से एक निमन्त्रण आया। उनके यहाँ देवी हवन

का आयोजन था। उसके बाद भोज भी रखा गया था। निमन्त्रण मुकेश के बड़े भाई लेकर आये थे और वे भानू जी को सपरिवार आने के लिये काफी आग्रह कर गये।

छुट्टी का दिन था इसीलिये रोहण और कुसुम रीना की ससुराल गये। उनके पहुँचने तक हवन आरम्भ हो गया था और काफी लोग इकट्ठा हो गये थे। पण्डितजी ऊँची आवाज में मन्त्रोच्चार कर रहे थे। आहुतियाँ दी जा रही थीं और पूरा वातावरण सुगन्ध से भरा था। रीना के देवर ने कुसुम और रोहण का स्वागत किया और वे यज्ञ में शामिल हुए। कुसुम की निगाहें रीना को खोज रही थीं। कुछ देर बाद मुकेश की माताजी आईं उन्होंने कुसुम का स्वागत किया। रीना की जेठानी भी दो बार मण्डप में आई मगर रीना कहीं नजर नहीं आ रही थी। वह शायद ऊपर के कमरे में मेहमानों के चाय-नाश्ते की व्यवस्था में व्यस्त थी। कुसुम के बुलाने पर वह आई कुछ मिनट उसके पास रुकी और फिर काम में व्यस्त हो गई। पूर्ण आहूति के समय परिवार के सब सदस्य एकत्र हो गये। आरती हुई और प्रसाद ग्रहण किया गया।

रीना कुसुम को ऊपर बड़े कक्ष में ले गई। वहाँ उसके बहुत से रिश्तेदार इकट्ठा थे। रीना सबसे माँ का परिचय करा रही थी, "मम्मी ये देहरादून वाली मौसीजी हैं और ये बड़ी बुआजी हैं। ये दीदी हैं। आज सुबह ही आई हैं....।" कुसुम ने हाथ जोड़कर सबको नमस्कार किया। रोहण ने खाना खाया और वे विदा लेकर चलने लगे। तब तक और मेहमानों का जाना भी शुरू हो गया। रीना दौड़-दौड़कर सबकी जरूरतों का सामान ला रही थी और सबको अच्छी तरह विदा कर रही थी। कोई खाना खाये बगैर रह तो नहीं गया है वह बार-बार इसके लिये चिंतित थी। कुसुम बूझना चाहती थी कि उसने स्वयं भी सुबह से पानी पीया या नहीं। पर इतने लोगों की उपस्थिति देखकर चुप रह गई। कुसुम को आश्चर्य हो रहा था कि कल तक की अल्हड़ और अबोध-सी उसकी बच्ची आज कैसी जिम्मेदार गृहणी बन गई है। कुसुम घर लौट आई।

रात के दस बज चुके थे। ठण्ड का मौसम था। दिन-भर की थकी होने से कुसुम को ठण्ड का अहसास कुछ अधिक ही हो रहा था। वह लेटी तो एकदम बेसुध हो गई। सपने में उसने रीना को देखा। सिर पर पल्लू डाले वह कितनी व्यस्तता से सबकी सेवा में लगी हैं। कुसुम की नींद उचट गई। इसके बाद बहुत कोशिश करने पर भी उसे देर रात तक नींद न आई। पूरे दिन की घटना उसके सामने तैरती रही। रीना मेरी प्यारी बच्ची कितनी थक गई होगी। काम मेरे साथ भी करती थी पर क्या इतनी बेसुध होकर। मैंने सदा उसके खाने-पीने का कितना

ध्यान रखा। लगता नहीं वहाँ कोई आग्रह करके उसे खिलाता होगा। फिर कुसुम के विचारों ने पलटा खाया। रीना के प्रति ममत्व और दया का स्थान क्रोध ने ले लिया। ''वैसे वो है भी इसी लायक। देखो तो सबको कैसा जी लगा-लगाकर बोल रही थी। अपनी मौसी से तो सदा झगड़ती रही। वहाँ मौसीजी, मौसीजी कहते उसका मुँह नहीं थकता था। कौन बड़ी उमर की है मुकेश की मौसी? मेरी बहन से दो-चार साल छोटी ही होगी।'' कई दिनों तक कुसुम के मन में ऐसे ही ख्याल आते रहे। एक दिन दोपहर के समय कुसुम खाना खाने जा ही रही थी कि रीना आ गई। उसने आते ही आवाज लगाई माँ क्या बनाया है, जल्दी लाओ। बहुत भूख लगी है। कुसुम ने खाना परसा। माँ बेटी ने साथ खाया। कुसुम से रहा न गया, बीच ही में बूझ बैठी, ''क्यों री, तुझे माँ के घर ही भूख लगती है, ससुराल में भूख-प्यास याद नहीं आती?'' रीना उठते हुए बोली, ''ओह माँ, समझा करो। मैं नहीं चाहती कि मेरे किसी काम में चूक हो और फिर मेरे कारण तुम्हें कोई उलाहना दे। मैं अच्छी तरह जिम्मेदारी निभाऊँगी तो नाम आपका ही होगा न।'' कुसुम को लगा बात तो ठीक कहती है। फिर भी उसने थोड़ा गुस्से से कहा, ''अपना ख्याल तो रखना ही चाहिए।''

कुसुम मौके-बेमौके इसी तरह के व्यंग रीना पर छोड़ देती, ''हाँ, तो क्या आज्ञा है आपकी मम्मीजी की? कब तक की अनुमति है तुम्हें यहाँ रहने की?'' रीना सब चुपचाप सुनती, मुस्कराती और माँ को समझाती, ''मम्मी धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा। हर समय उलझने से भी क्या फायदा है?'' इन्हीं नोक-झोंक के बीच रीना की शादी का पूरा साल बीत गया। उसने अपनी ससुराल की कोई शिकायत कभी न की और न ही माँ से कुछ अतिरिक्त करने को कहा।

एक छुट्टी के दिन भानू दोपहर के समय बैठे अखबार पढ़ रहे थे कि एक सज्जन अपनी बेटी का रिश्ता लेकर उनके यहाँ आये। बात सबको जँच गई और माह बीतते रोहण की शादी मोहनी के साथ धूमधाम से सम्पन्न हो गई। कुसुम बहू को देखकर गद्‌गद थी। जैसा नाम वैसा भोला चेहरा और वैसा ही मधुर स्वभाव भी। नाच-गाने, खाना पकाने के गुणों में कुसुम की उम्मीदों से भी बढ़कर। कुसुम के घर की रौनक लौट आई थी।

पूरे घर को नए ढंग से सजाया गया। ड्राइंग रूम में नया सोफा, नए शो पीस और मैचिंग पर्दे। बैड रूमों में नए-नए बैड और बैड कवर। रसोई में कितने ही नए बर्तनों की चमक। यानी दिप-दिप करता साफ-सुथरा पूरा घर और उस घर

में नई-नई साड़ियों और गहनों से सजी भोली बच्ची-सी हँसती, गुनगुनाती बहू। कुसुम का मन यह सब देखकर खिल उठता।

कोई भी काम करने से पहले मोहनी कुसुम की अनुमती लेती। रोहण भी उसे हिदायत देता कि माँ से बूझ लो। कुसुम बड़ी जिम्मेदारी और अधिकार से बहू को समझाती। कुसुम ने मन ही मन बहू को लेकर कई योजनाएँ सोच ली थी। उसकी किट्टी पार्टी में मिसेज माथुर अपनी बहू की कितनी बढ़ा-चढ़ाकर तारीफ करती है। मैं एक दिन मोहनी को खूब सुन्दर साड़ी गहनों से सजाऊँगी और तब अपनी किट्टी पार्टी वालियों को बुलाकर उसके हाथ की कोई अच्छी-सी डिश भी उन्हें खिलवाऊँगी। झूठी शान बघारने वालियाँ जरा देख तो ले रूप और गुण होता क्या है। मोहनी को मनौती पूरी कराने देवी मंदिर ले जाना हे, उसे कितनी ही रिश्तेदारियों में भेजना है, वहाँ किसके साथ क्या व्यवहार करना है, यह सब उसे समझाना होगा जैसी कितनी ही बातें कुसुम मोहनी के बारे में सोचती रहती और अवसर देखकर उन्हें पूरा भी कर लेती। मोहनी सब में पूरे उत्साह के साथ भागीदारी करती तो कुसुम निहाल हो जाती।

कुसुम ने इलैक्ट्रिशियन को बुलाकर घर के बाहर लाइट की सजावट करा दी। घर में भी भरपूर रौशनी का इंतजाम कराया। पूरा घर कुसुम और मोहनी की बनाई मिठाइयों से महक उठा। रिया हॉस्टल से आ गई थी वह भी सब कामों में भरपूर सहयोग कर रही थी। कुसुम ने बहू के लिये एकदम नए डिजाइन की साड़ी और मोतियों का एक नया सैट खरीदा। कुसुम बेहद उत्साह से भरी थी। वह मोहनी को अपनी सामर्थ्यभर खुशी देना चाहती थी। आखिर उसकी इकलौती बहू की ससुराल में यह पहली दीपावली जो थी। ताजे फूलों से घर के मंदिर को सजाया गया। मोहनी ने वहाँ सुन्दर अल्पना बनाई। कुसुम दौड़-दौड़ कर सब व्यवस्थाएँ कर रही थी। तभी मोहनी का भाई फल-मिठाई लेकर आ गया। कुसुम ने उसका भरपूर स्वागत किया। कुछ देर रुककर वह जाने लगा तो उसने कुसुम से अत्यंत नम्र निवेदन किया—"आप दीदी को कुछ समय के लिए मेरे साथ भेज दें तो मेहरबानी होगी। अम्मा कह रही थीं त्यौहारों पर बेटी को बुलाना शुभ होता है।"

कुसुम का उत्साह न जाने कैसे अचानक गुस्से में बदल गया। वह बोली, "क्या उसका यहाँ रहना अशुभ है। आठ दिनों से मैंने जो तैयारियाँ की हैं वे सब किसके लिए हैं। अम्मा को कह देना आज के दिन गृहलक्ष्मी का घर में रहना ही शुभ होता है। अब तक की उम्र तो उसने वहीं गुजारी है। साल दो साल में नौकरी

पर चली जाएगी फिर ससुराल के रीति-रिवाज सीखने का समय कब आएगा?"
मोहनी साथ के कमरे में कुसुम की आवाज साफ सुन रही थी। उसका दिल चाहा कि वह स्वयं जाकर कहे कि उसे जाने दें वह बहुत जल्द लौट आएगी। परन्तु कई दिन से कुसुम की मेहनत और लगन को सोचकर मोहनी का मन कुसुम के सामने जाने का न हुआ। मोहनी का भाई अकेला ही लौट गया। मोहनी काम में बराबर लगी रही पर अब उसकी गति धीमी हो गई थी और चेहरा उदास। पूजन के समय मोहनी ने नई साड़ी और सैट पहना। वह अपने पूरे बनाव श्रृंगार के साथ तैयार हुई पर चेहरा बेरौनक ही लगता रहा, बुझा-बुझा सा। कुसुम ने भी एक दो बार महसूस किया कि मोहनी के मन में कुछ है जिसे शायद वह कह नहीं पा रही है और नई साड़ी व सैट उसकी उतनी रौनक नहीं बढ़ा पा रहे हैं जितनी उम्मीदों से उन्हें खरीदा गया था। कुसुम अपनी बहू को उदास नहीं देखना चाहती थी। वह मन-ही-मन इसका कारण खोजने लगी। उसे दोपहर की घटना याद आई, जिसे वह काम में बिलकुल भुला चुकी थी। कहीं इसका मायके न भेजा जाना ही तो इस उदासी का कारण नहीं है? हो भी सकता है। कुसुम को याद आया जब वह त्यौहारों पर रीना को लेने रोहण को भेजती थी और वह अकेला लौटता था तो खुद उसका मन कितना दुखी हो जाता था और बहुत बार रोहण आकर बताता था, "दीदी आना चाहती थी पर आ नहीं सकी। वो बहुत दुखी थी।" कुसुम को अपनी गलती का थोड़ा-थोड़ा एहसास हो रहा था। उसे यह सोचकर आश्चर्य हो रहा था कि आखिर वह इतनी कठोर कैसे हो गई? कुछ ही देर की तो बात थी यदि बहू चली जाती तो क्या फर्क पड़ता। उसने तुरन्त भूल सुधार ली और रोहण को बहू को कुछ देर उसकी माँ से मिला लाने का आदेश दे दिया। रोहण ने थोड़ा विरोध किया पर माँ का आदेश टाल न सका। मोहनी का चेहरा एकदम खिल उठा। रोहण और मोहिनी चले गये। वे दो घंटे में लौट भी आये। इससे कुसुम को आत्मिक सुख मिला। उसने बहू के मन को समझने का प्रयास किया था जिसमें वह सफल रही।

अगले दिन मुकेश और रीना आये। मुकेश ने कुसुम से कल न आ पाने की मजबूरी जताई। कुसुम बोली, "कोई बात नहीं घर-गृहस्थ में ऐसा हो जाता है।" मुकेश ने थोड़ा आश्चर्य से कुसुम को देखा। घंटे भर बाद मुकेश और रीना जाने लगे तो कुसुम ने बड़े स्नेह से खुशी के साथ उन्हें विदा कर दिया। आज उसके मन में रीना को और रोकने का आग्रह नहीं था और न ही कल न पाने के लिए कोई गिला।

झाड़ू

भोर हुई, मंदिर का घंटा बजा और मालती की आँखें नित्य के अभ्यास से खुल गई। पर आज चारपाई छोड़ने का उसका मन न हुआ। रात भर जोड़ों के दर्द ने ठीक से सोने ही नहीं दिया। वह बुदबुदाई, ''अब सत्तर की उम्र पार हुई बुढ़ापा है बीमारियाँ न घेरेंगी तो क्या जवानी आयेगी?" सच बुढ़ापे का अर्थ ही बुराआपा है। जब अपने शरीर का नियंत्रण उठने लगे, समझो बुढ़ापा आ गया। बूढ़ा तो एक दिन सभी को होना है, कोई देर, कोई सबेर। सौ-सौ बरस जीने का समय अब कहाँ रहा? खान-पान, आबो-हवा सब दूषित है। शरीर बेचारा किस-किस से लड़े। बाहर से आती झाड़ू की आवाज से मालती को खयाल आया—"अरे दिन निकल आया है घर में झाड़ू तो लगनी चाहिये।" उसका यह रोज का नियम है। बाई के आने से पहले घर एक बार झाड़ लेती है। बाई तो अभी दो घंटे बाद आयेगी। वह भी निश्चित है, यहाँ कौन समय से स्कूल, दफ्तर जाने वाला है। अकेली जान। आधा दिन तो नहाते-धोते व पूजा-पाठ करते ही बीत जाता है। फिर मन हुआ तो दाल-रोटी बनी नहीं तो खिचड़ी ही सही। महीने में आठ-दस दिन फलाहार और उपवास में गुजर जाते हैं। बाहर से झाड़ू की आवाज और करीब होने लगी। मालती अपने से ही बातें करने लगी—लगता है सड़क बुहारने वाला आज जल्दी आ गया। घर हो या बाहर झाड़ू तो सुबह जल्दी लगनी ही चाहिये। उसकी दादी कहती थी ''जिस घर में भोर में घर की बहू झाड़ू न लगाये, वहाँ बरकत नहीं होती। घर की बहू साक्षात् लक्ष्मी होती है। यदि वही लक्ष्मी का स्वागत न करे तो लक्ष्मी रूठ जाती है।'' उसकी दादी झाड़ू को भी लक्ष्मी कहती थी। कितने रूप हैं इस झाड़ू के भी। लम्बी-छोटी, हल्की-भारी, सींक झाड़ू, फूल झाड़ू......और न जाने कैसी-कैसी। अब तो बिजली की झाड़ू से लोग झाड़ू लगाते हैं। घुर-घुर करती बड़ी-सी मशीन पाइप से सारी धूल मिट्टी खींच लेती है।

दो साल पहले जब अनूप हिन्दुस्तान आया था तो उसने अपने घर और माँ को आधुनिक सुख-सुविधाओं से सजाने की कोशिश की थी। वह एक बेड और डायनिंग टेबुल का आर्डर दे आया था लेकिन मालती ने इस सबको मना कर दिया था। उसका अपना पुराना सामान और तरीका ही ठीक है। वह इसकी आदी हो चुकी है। उसकी तो बस एक छोटी-सी खाट है, जहाँ मन हुआ उठाकर बिछा ली। बैठक में तख्त और चार आराम कुर्सियाँ सही हालत में हैं। इतना बहुत है उसके लिये। उसके पास कहाँ रोज मेहमान आते हैं। झाड़ू की आवाज फिर आने लगी। अब यह झाड़ू से कूड़ा बटोर लेने की आवाज है। हाँ, उसकी दादी कहती थी—"झाड़ू लगाओ तो कूड़ा बटोर कर उठा जरूर देना चाहिये। नहीं तो दोष लगता है। ''दादी का जमाना भी क्या था? दिन में तीन बार झाड़ू लगती थी। ऊपर-नीचे बारह-चौदह कमरों का मकान। बड़े-बड़े दालान और आँगन। बड़ी-सी बैठक और बैठक के सामने चबूतरा। दादी का चार बेटों का भरा-पूरा परिवार उसी घर में आबाद था। सुबह उठकर बहुऐं कमरे बुहारती। पर बाहर बैठक और चबूतरे की झाड़ू दादी सूर्योदय से पहले ही लगा लेती थी। दादी कहती—इनका क्या भरोसा? कब फुर्सत मिली, कब झाड़ू लगी? दिन चढ़ जाय और झाड़ू न लगे, यह भी कोई बात है।

वे दिन भी कैसे खुशियों भरे थे। हम बच्चे आँगन में बैठ जाते और माँ बाल्टी भर-भर पानी हमारे सिर पर डालती जाती। ताई मल-मल कर नहलाती। हम बच्चे हटने का नाम ही नहीं लेते थे। आखिर में ताई नकली गुस्से से सबको भगा देती। दादी दालान में बैठी सबके भोजन की योजना बनाती और चाचियों को निर्देश देती जाती। परिवार में कौन किस उम्र का है, उसके खाने की जरूरत क्या है? किसे क्या रूचता है, क्या नहीं, बीमार के खाने में क्या विशेष बनाया जाना है, किस मौसम में किस प्रकार के फल-सब्जी, तरकारी, अनाज और मसाले खाना लाभदायक है एवं किस त्योहार पर क्या विशेष बनना है,—दादी के पास इस सबका ब्यौरा जुबानी रहता था। वह हर अवसर की व्यवस्था इतनी बारीकी से करती कि दादा से लेकर घर के नौकर तक को शिकायत का मौका न मिल पाता था। उसके हाथ से सभी अपनी-अपनी रूचि और आवश्यकता का भोजन पाते थे। तब हम बच्चों का पूरा दिन खेलकूद में कब निकल जाता पता ही न चलता। शाम तक हम आँगन को कचरे से भर देते थे। तब दादी का आदेश होता—"जाओ बाहर खेलो।" घर को फिर बुहारा जाता। कोई कूड़े-कचरे को लेकर हम बच्चों को डाँटता तो दादी उस पर बिगड़ जाती। वह कहती—"बच्चे हैं तो कचरा भी है। तुम

से सफाई नहीं होती तो हटो मैं खुद कर लूँगी।'' न जाने दादी को बच्चों से अधिक मोह था या झाड़ू से। वह दोनों में से किसी से भी कभी उकताती नहीं थी। कभी कोई बड़ा हम बच्चों को डाँट देता–"हटो अब माँ जी को आराम करने दो।" तब दादी नाराज हो जाती। कहती–"आज ये बालक हैं। कल ये ही मेरी सेवा करेंगे। मैं क्या सदा इतना कर पाऊँगी?" दादी को अपना पूरा कुटुम्ब प्यारा था। उसे पूरा भरोसा था कि वह अपनो के बीच सदा सुरक्षित है। परिवार के नाती-पोते, बेटे-बहू सभी दादी का सम्मान करते थे। मौहल्ले वाले भी उससे कम लगाव न रखते थे। किसी के भी सुख-दुःख की खबर पाते ही दादी नंगे पाँव दौड़कर पहुँच जाती थी। वह सारी उम्र स्नेह बाँटती और मान बटोरती रही। उसने अपने बेटे-पोतों को कहीं दूर न जाने दिया। बड़े चाचा कुछ दिन राजस्थान चले गए तो दादी रात-दिन बेचैन रही और उन्हें लौटाकर ही चैन लिया। दादी के पास अपने बच्चों के गुजर भर का इंतजाम था। बड़ा घर व कपड़े की दुकान दादी की नजर में सबके गुजारे लायक काफी थी। उसने तीनों बेटियों का ब्याह भी बस इतनी दूर किया जो सुबह का गया शाम तक लौट आये। साल में एक बार दादी अपने परिवार को इकट्ठा कर लेती थी।

दादी का मरना भी मालती को अच्छी तरह याद है। उसकी याद में दादी कभी बीमार न हुई थी पर उस बार बुखार ने घेरी तो फिर चारपाई से उठ भी न पाई। मरने वाले दिन दादी को सुबह-से ही एहसास हो गया था कि आज उसका आखिरी दिन है। उसने अपने बेटों-पोतों, नाती सबको याद किया। ताई और माँ दादी के पैर मलती रही और ताऊजी उन्हें गीता पढ़कर सुना रहे थे। पिताजी और चाचा बारी-बारी से मुँह में गंगाजल डाल रहे थे। कभी-कभी दादा उनके मुँह के पास कान सटाकर बुदबुदाती आवाज को सुनने का प्रयास करते। मौहल्ले के भी काफी लोग इकट्ठा हो गये थे। बच्चे बाहर खेल रहे थे। अचानक तेज चीख-पुकार और रोने की आवाज से अन्दर दौड़े तो दादा ने कहा–"तुम्हारी दादी गई।" गई का अर्थ अचानक स्पष्ट न हुआ। पर अनहोनी का एहसास हो गया और सबको रोता देखकर बच्चे भी रोने लगे। फिर दादी की अर्थी क्या ठाठ से उठी। मालती को अभी तक रंग-बिरंगे गुब्बारों, फूल मालाओं और रेशमी शालों की याद है जो दादी को सजाने को लगाये गये थें। बैंड बज रहा था, लोग रोते जाते थे और साथ ही नाच भी रहे थे। कैसा अलग-सा दृश्य था वह। इसके बाद कई दिनों तक बैठक में मर्द और दालान में महिलाऐं इकट्ठा होती रहीं। सब दादी के गुणों का बखान कर रहे थे। छोटी दादी कह रही थी –"जीजी बड़ी किस्मत वाली थी। उसने अपने

सामने कोई दुःख न देखा और सुहागन ही गई।" दादा ने कहा—"यह अच्छा हुआ, उसके सब बच्चे नाती-पोते इकट्ठे हो गये। वो यही चाहती थी।" ऐसी ही चर्चा होते-होते तेरहवीं का दिन आ गया।

सुबह से हवन, दान ब्रह्म-भोज और फिर मौहल्ले भर की दावत। दूर-दूर से रिश्तेदार इकट्ठा हो गये थे। घर के लोग दौड़-दौड़कर पाँत की पाँत बिठाकर खाना खिला रहे थे। शाम तक अधिकतर रिश्तेदार चले गये। दो-चार दिन में सब पहले जैसा हो गया। झाड़ू लगने लगी, खाना पकने लगा और परिवार के सदस्य अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो गए। कुछ दिन ताई ने दादी की जिम्मेदारी सम्भाली और फिर माँ ने, पर उसके जैसा कोई न कर पाई। सबको सन्तुष्ट रखने का जो गुण दादी में था वैसा किसी में न हुआ। दो-चार महीनों में छोटी-छोटी बात पर किन-किन होने लगी। अधिकतर सुबह की झाड़ू से ही विवाद उठता और शाम तक किसी-न-किसी मुद्दे पर झड़पें हो ही जाती। साल बीतने तक घर का शोर बाहर सुनाई देने लगा। दादा ने सबका बँटवारा कर देने में ही भलाई समझी। दादी की बरसी में इकट्ठे हुऐ रिश्तेदारों के समक्ष बँटवारा हो गया। ताई और छोटी चाची, दादी के घर में रहीं। पिताजी और बड़े चाचा ने अलग-अलग घरों की व्यवस्था कर ली।

नए घर में नए सिरे से कार्य प्रारंभ हो गया। यहाँ घर का पूरा काम सम्भालने वाली माँ अकेली थी। माँ दादी की तरह भोर में उठती। वह सबसे पहले झाड़ू लगाती फिर नहाती और फिर खाना तैयार कर सबको स्कूल भेजती। यही उसकी दिनचर्या का प्रमुख हिस्सा था। मालती को माँ पर बड़ा तरस आता। वह समय निकाल कर उसकी मदद करती, पर माँ जल्दी ही कह देती—"जा बेटा पढ़ ले। इस सब काम को तो मैं बगैर पढ़ी ही बहुत हूँ।" मालती कभी-कभी दादी की तुलना माँ से करती। वह सोचती—दादी का समय भी अच्छा था, न बेटियाँ स्कूल जाती थीं, न बहुऐं नौकरी करने। सब मिल-जुलकर घर का काम कर लेती थीं लेकिन माँ न हमें स्कूल से रोकना चाहती है न भाभी को साथ रख पाई है। दीदी की शादी होने पर माँ और अकेली हो जायगी। माँ का सपना है मैं लड़कों की तरह खूब पढ़ूँ और अच्छी नौकरी करूँ। तब मैं भी माँ के साथ कहाँ रह पाऊँगी? मालती ऐसे ही विचारों में खो जाती। कभी-कभी वह माँ से सवाल करती—"माँ तुम इतना काम करते-करते थकती नहीं हो?" माँ कहती, "इसमें कैसा थकना? मैं अपने बच्चों को पढ़ते-बढ़ते जो देख रही हूँ।" "माँ मैं बड़ी होकर अच्छी-सी नौकरी

करूँगी। तब आपको यह सव काम नहीं करना पड़ेगा।" माँ ठीक दादी के अंदाज में जवाब देती—"न बेटा न। घर में सुबह झाड़ू लगना जरूरी है। वासी घर तो भूत का बासा है।" मालती माँ की बातों पर खूब हँसती। पर माँ के अस्वस्थ होने पर सुबह की झाड़ू स्वयं लगा देती। शायद यह पीढ़ियों का संस्कार था जो चुपके-चुपके उसके व्यवहार में पनप रहा था। मालती की माँ यूँ ही काम करते और भागते-दौड़ते बूढ़ी हो गई। बड़े दोनों भाई अपने परिवारों के साथ दूसरे शहरों में चले गये। दीदी को ससुराल दूर मिली। माँ ने न चाहते हुए भी उसे विदा कर दिया।

पिता का देहावसान समय से पूर्व हो गया। माँ को बुढ़ापे के अकेलेपन की चिंता सताने लगी। इसीलिये उसने छोटे भाई को घर में ही कपड़े की दुकान खुलवा दी। यही खानदानी कारोबार था अतः दोनों चाचाओं से उसे इस संबंध में काफी जानकारी भी मिल गई माँ ने मालती को भी दूर न जाने दिया। पास के शहर में ही उसकी ससुराल ढूँढ़ ली गई। माँ का बुढ़ापा यद्यपि दादी जैसा खुशहाल तो न हुआ तब भी काफी हद तक निश्चित तो था। पड़ौस में आत्मीयता के संबंध रखने का जमाना खत्म हो चुका था। पड़ौसी-पड़ौसी से प्रतिस्पर्धा करने लगे थे। परन्तु एक-दूसरे के सुख-दुःख में शामिल हो जाते थे और त्यौहारों को मिल-बैठकर मना लेते थे। माँ ने अपनी पड़ौसन सखियों के साथ कई तीर्थ यात्राऐं की थीं। कीर्तन या सत्संग तो वे नित्य ही जाती थीं। माँ का अंत समय अचानक आया। दो दिन में सब खत्म। दोनों भाइयों को बुला लिया गया था। मालती भी पहुँच गई पर भाई की लाख कोशिशों के बाद भी दीदी न आ पाई। वह माँ का मुँह न देख सकी।

मालती ने घड़ी की ओर देखा। आठ बजने वाले थे। उसे खुद पर बड़ी हैरानी हुई। आज से पहले वह कभी इतनी देर तक न सोई थी। वह चारपाई से उठी और बाहर झाँकने लगी। किरन अभी गली में मौजूद थी। वह अपनी साथियों से बातें कर रही थी और बीच-बीच में हाथ हिलाते हुए जोर-जोर से बोल रही थी। उसके हाथ में लम्बी झाड़ू थी जिसे वह गुस्से में कभी-कभी जमीन पर पटक देती थी। किरन शायद म्यूनिस्पलटी के किसी अफसर से नाराज थी जिसका गुस्सा यहाँ निकाल रही थी। सच, यह झाड़ू केवल कूड़ा-करकट हटाने का साधन मात्र नहीं है वरन् यह कितनों की रोजी-रोटी का आधार है। बहुतों का यह हथियार हैं और कभी-कभी तो यह आन्दोलनों का चिह्न भी बनी है।

मालती बैठक में आकर बैठ गई। यहाँ उसके पूरे परिवार की एक बड़ी-सी फोटो लगी है। मालती के बेटा-बेटी तब केवल पाँच व सात वर्ष के थे। मालती

की एक फोटो विवाहोपरान्त की भी है जिसमें वह उसके पति और पीछे सास-ससुर आशीर्वाद देते हुये हैं। मालती माँ का घर छोड़कर ससुराल आई और उसने गृहकार्य आरंभ किया तो न जाने किस प्रेरणा से अपनी दिनचर्या का आरंभ झाड़ू से ही किया। उसे झाड़ू लगाते देख माँजी मेहरिन पर नाराज हो गई थीं। अगले दिन मालती ने थोड़ा और सुबह झाड़ू लगानी आरंभ कर दी। बरामदा बाकी रहा कि माँजी की आँख खुल गई। उन्होंने मालती को दुलारते हुये झाड़ू लेकर एक किनारे रख दी और मालती को समझाया—"अभी तुम बस अपना काम कर लिया करो। मैं मेहरिन को झाड़ू का पैसा देती हूँ। यह काम उसी को करने दो।" तब मालती ने धीरे से कहा था—"माँजी घर में झाड़ू तो सुबह लगनी चाहिये।" इस पर वे हँसी थी और मालती को झाड़ू लगाने की अनुमति मिल गई थी। कुछ ही वर्षों में मालती की ससुराल का संयुक्त परिवार बँट गया। जेठ, देवर सब अलग-अलग रहने लगे। घर में सास-ससुर के साथ पारिवारिक परम्पराओं को निबाहते हुये वही रही। उसके दोनों बच्चों अनूप और आकाँक्षा का जन्म भी यहीं हुआ। आज वे भी विदेश चले गये हैं। सास-ससुर को गुजरे एक अरसा बीत चुका हैं। पर चार साल पहले पति के स्वर्ग सिधारने से मालती इस घर में एकदम अकेली हो गई है। बहुत बार मन करता है किसी रिश्तेदार के बच्चे को पास रख ले लेकिन मन डरता है उसकी ठीक परवरिश न हो पाई तो। जमाना खराब है कहीं वह गलत रास्ते चल पड़े तब जीवन भर की बुराई। कभी वह सोचती है यह घर-द्वार सब छोड़ दे और किसी तीर्थ स्थान पर जाकर रहे, लेकिन मन शंकित हो जाता है—न जाने कैसे लोगों के बीच रहना पड़े उनसे विचार मिल पाये, न मिल पाये, कोई पैसा लेकर आँखें फेर ले तब क्या होगा? छोटी-छोटी जरूरतों को भी दूसरे के मोहताज होना क्या अच्छी बात है? एक बार घर छोड़ दिया तो लौटना भी मुश्किल। ना बाबा ना, अपने घर में जो आराम है वह और कहाँ? पड़ौस में फर्श की धुलाई की आवाज ने मालती को फिर झाड़ू की याद दिला दी। झाड़ू के साथ ही उसे अपनी माँ की याद आई। माँ कहती थी—"सुबह बच्चे चारपाई से नीचे पैर रखे उससे पहले झाड़ू लग जानी ठीक है। रात में कोई कीड़ा-काँटा हो तो हटा दिया जाय।" मालती की दादी भी यही कहती थी—"बच्चे हैं तो कूड़ा है।" मालती को अपने बच्चों की याद आई—वे तो अब परदेश हैं। यहाँ न बच्चे, न बच्चों के बच्चे। वह दो नातियों की नानी है और एक पोते की दादी। लेकिन मालती ने केवल पोते को ही देखा है वह भी तब जब वह साल भर का था।

अपने पिता के निधन पर भी अनूप अकेला ही आ पाया, वह भी तेरहवीं से दो दिन पहले। महेन्द्र बाबू को पुत्र के हाथ का पानी नसीब न हो सका। मुखाग्नि अनूप के चचेरे भाई ने दी। गेट के जोर-जोर से खटकने की आवाज ने मालती को अतीत से वर्तमान में लौटा दिया। वह उठी और गेट खोल दिया। नीतू मालती के पास आकर खड़ी हो गई और बोली—"आण्टी तबियत ठीक नहीं है क्या? मैं कब से दरवाजा बजा रही थी।" "तबियत ठीक है।" "तब क्या अभी तक सोई रहीं।" "हाँ, यूँ ही। आलस आ रहा है।" नीतू झाड़ू लगाने लगी। मालती उसे देखती हुई फिर सोचने लगी। आज सुबह से घर में झाड़ू ही नहीं लगी। न जाने कैसी तबियत हो रही है। मुझे एक बार झाड़ू लगा लेनी चाहिये थी। लेकिन अगले ही क्षण मालती के मन में विपरीत विचार उठने लगे।

मैं झाड़ू क्यों लगाऊँ, किसके लिए लगाऊँ? यहाँ कौन मेरे बाल-बच्चे हैं? एक फ्रांस में तो एक अमेरिका में। इस घर पैसे का क्या इतना वजूद है जो वे इसका लालच करेंगे? क्या वे इसे लेने आयेंगे? न जाने मेरे अंत समय कोई आ भी पायेगा या नहीं या मिट्टी गैरों के ही हाथों ठिकाने लगेगी? आज नहीं तो कल ये घर पराया होना ही हैं फिर क्या फर्क पड़ता है झाड़ू लगे न लगे। वो कितनी साधनहीन हैं जो अपने एक बच्चे के गुज़र-बसर का भी इंतजाम न कर पाई। पेट की खातिर उन्हें परदेश जाना पड़ा। मालती से तो मालती की माँ अधिक सम्पन्न थी। उसने कम-से-कम एक बेटे को तो पास बसा लिया। तीज-त्यौहार पर मालती को बुलाकर वह बेटा-बेटीं की साध पूरी कर लेती थी और दादी तो और भी सम्पन्न थी। उसे पूरा यकीन था कि उसकी सन्तानों के भरण-पोषण लायक उसके पास बहुत कुछ है। अंत समय तक उनके पास बच्चे, कूड़ा, झाड़ू सब था और मैं आज अकेली। न बच्चे, न कूड़ा, न झाड़ू।..........। मालती फिर गहरे विचारों में डूब गई।

हरी मिर्च

रीता शर्माजी के घर की बहू बनकर आई तो उनके घर की खुशी को चार चाँद लग गए। रीता ने अपनी मेहनत और हँसमुख स्वभाव से सबका मन जीत लिया। वह घर के हर सदस्य की जरूरतों का ध्यान रखती। खाने में किसे क्या पसंद है रीता बहुत जल्द यह समझ गई थी। शर्माजी को हरी मिर्च पसंद थी। रीता के परोसे खाने में उन्हें कभी वह माँगनी न पड़ी। रीता अपनी फालिज से अपाहिज सास की सेवा इतनी नियमित और लगन से करती कि शर्माजी आज तक जान न पाये कि उनकी बीमार पत्नी की दिनचर्या क्या थी? नन्द के ससुराल चले जाने पर रीता ने उसके दायित्त्वों को भी सहज सम्भाल लिया और सास-ससुर के लिए बहू-बेटी दोनों हो गई। पास-पड़ौस, रिश्तेदार सभी रीता के व्यवहार से खुश थे। पर ईश्वर ने एक छोटी-सी दुर्घटना से उसे अपनों से जुदा कर दिया। तीन बरस का पावस तड़प कर रह गया। परिवार वालों के आँसू थे कि थमने का नाम ही न लेते थे।

कुछ दिनों बाद नेहा के पिताजी का शर्माजी के यहाँ आना-जाना अचानक बढ़ गया। एक दिन उन्होंने मन की बात कह ही दी—"एक सामाजिक उपकार होगा शर्माजी। आप नेहा को स्वीकार लें। चार बरस पहले उसके पति के फौज में मारे जाने के बाद से मैं उसके भविष्य को लेकर परेशान हूँ। आपके आशीर्वाद से मैं चिंतामुक्त हो जाऊँगा।" शर्माजी ने इसका फैसला अपने बेटे पर ही छोड़ दिया।

आदर्श ने रीता की मृत्यु के बाद तय किया था कि वह शेष जीवन उसकी यादों के सहारे बिता देगा। पर पावस के भोले और माता-पिता के बेबस चेहरों ने उसे अपना फैसला बदलने को मजबूर कर दिया और उसने इस संबंध के लिये स्वीकृति दे दी। नई बहू के आगमन से घर चहल-पहल से

भर गया। अबोध पावस भौंचक होकर नेहा को देख रहा था और उसकी निगाहों में अपने लिये स्नेह की किरण खोज रहा था। आदर्श और नेहा के कुछ दिन घूमने-फिरने और आने-जाने में बीत गये। अब घर के लोग गृहणी के कार्यों की आवश्यकता महसूस करने लगे। पर नेहा की इस सब में कोई दिलचस्पी पैदा न हुई। उसने अपना मेकअप, आराम और घूमना-फिरना जारी रखा।

रात ग्यारह बजे का समय रहा होगा। शर्माजी गहरे विचारों में डूबे आँगन में टहल रहे थे। तभी उन्होंने बेटे-बहू के कमरे से आने वाली कुछ ऊँची आवाजों को सुना—"आप क्या समझते हैं मैं सुबह से नौकरानी की तरह जुट जाया करूँ? दिन भर उसी में लगी रहूँ? नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकती।" "नेहा तुमको समझना चाहिये कि पिछले छः महीनों में माँ-पिताजी और पावस किस मानसिक पीड़ा से गुजरे हैं। तुम्हे अब उन पर ध्यान देना चाहिये।" "नहीं जी! मेरी भी कोई लाइफ है। मैं अपने दोस्तों, क्लब और किट्टी पार्टियों को नहीं छोड़ सकती। आप किसी घरेलू नौकर का इंतजाम कर लीजिये।"

आँगन में खड़े शर्माजी स्तंभित रह गये। उन्हें दस बरस पुराना दृश्य आँखों के सामने घूम गया। जब रीता इस घर की बहू बनकर आई थी। डोली से उतरने के अगले दिन से ही उसने सबके मन को जीतना शुरू कर दिया था। वह सास के साथ चौके में पहुँच गई थी और उसके लाख मना करने पर भी उसने सप्ताह बाद चौका सम्भाल लिया था। सास के गृहस्थ नियमों को रीता ने बारीकी से परखा और कुशलता से अपनाया था। फिर न जाने कब और कैसे वह परिवार का ऐसा हिस्सा बनती चली गई जिसके बगैर घर में किसी त्यौहार या उत्सव की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। घर में उत्सव होने पर रीता विशेष उत्साह से भर जाती थी। शर्माजी को अच्छी तरह याद है कि उनकी बेटी की शादी के कितने ही कार्य रीता की मेहनत और चतुराई से आसानी से सम्भल गये थे। आज यही घर है सुख-सुविधाऐं पहले से कई गुना अधिक। पर इस बहू और उस बहू का अन्तर इतना बड़ा कि जैसा उन्होंने कभी सोचा भी नहीं था। क्या मात्र दस बरस का अन्तर मानव मूल्यों को इतना बदल सकता है? उन्हें एकदम उल्टा कर सकता है? परंतु यह तो सच्चाई है कोई ख्वाब नहीं। दोनों बहुओं का अन्तर प्रत्यक्ष है। शर्माजी तेजी

से टहलने लगे। उन्हें रीता के चेहरे के साथ अपनी थाली में रखी हरी मिर्च का ध्यान हो गया और शीघ्र ही यह आभास भी हो गया कि अब उनकी थाली में वह नहीं होगी। शायद वो हरी मिर्च तीखी से कड़वी हो गई है। जिसकी आवश्यकता को अब उन्हें भूल जाना चाहिये। यह उनके अन्तर का दर्द है जिसे वे दबा सकते हैं, पी सकते हैं। पर उनकी पत्नी मालती और मासूम पावस का क्या होगा जो रात-बिरात बिना विचारे रीता को पुकारा करते थे और वह उनकी एक आवाज पर दौड़ी आती थी?

खाने पे नजर

गाड़ी अपनी पूरी रफ्तार से दौड़ रही थी और मैं खिड़की के समीप बैठी प्राकृतिक दृश्यों का आनंद ले रही थी। गाँव, कस्बे और छोटे-छोटे स्टेशन तेजी से पीछे छूट रहे थे। हल्की-हल्की बौछारों ने मौसम को सुहाना और दृश्यों को मोहक बना दिया था। गाड़ी के एक बड़े स्टेशन पर रुक जाने से मेरे लिए बाहर के दृश्यों में कोई आकर्षण न रहा। अतः मेरा ध्यान बोगी की अन्दर की गतिविधियों पर लौट आया। इस बीच मेरे सामने वाली बर्थ पर एक भद्र महिला अपने चार बच्चों सहित अधिकार जमा चुकी थी। बच्चे सात से सोलह वर्ष की उम्र के थे। ऊपर की बर्थ पर उनके अस्त-व्यस्त सामान का साम्राज्य था। नीचे सब लोग बतियाते, चिल्लाते और लड़ते-झगड़ते आबाद थे। महिला गठीले बदन और गौर वर्ण की लगभग तीस वर्ष को युवती थी। उसे देखकर एकाएक यकीन नहीं होता था कि वह इतने बड़े बच्चों की माँ हो सकती है। पर बच्चों द्वारा माँ शब्द का सम्बोधन किए जाने पर वह पूर्ण ममत्त्व के साथ उनका जवाब दे रही थी। बच्चों का व्यवहार भी सहज स्वाभाविक व अधिकार पूर्ण था। फिर भला किसी का भी सन्देह उनकी ओर क्यों जाता?

मेरे लिए तो इस परिवार में रुचि के बहुत से कारण थे—मैं स्वयं माँ हूँ इसी से बच्चों की बाल क्रीड़ाएँ मुझे लुभा रही थीं, मैं जीवन में पहली बार इतनी लम्बी यात्रा पर अकेली निकली थी अतः मुझे इनका सानिध्य एक सुरक्षा का एहसास दिला रहा था, लम्बी यात्रा में रोचकता उत्पन्न करने का भी वे माध्यम बन रहे थे और इन सबसे बढ़कर उनके मासूम से छोटे बच्चे ने मानो मुझे बाँध लिया था। मैं उसमें घर छोड़ आए अपने छोटे बेटे की छवि देख रही थी। इस बालक का मचलना, बिगड़ना, झगड़ना सब मुझे अपने लाड़ले जैसा लग रहा था। वह कभी मुस्कुराता हुआ कनखियों से मेरी ओर देखता और मेरे देखने पर मुँह दूसरी ओर

घुमा लेता। मन हुआ इससे बातें की जाएँ। लेकिन तर्क बुद्धि ने तुरंत नकार दिया। नहीं जमाना खराब है किसी से भी अचानक दोस्ती अच्छी नहीं। फिर न जाने उसकी माँ मेरी पहल को पसंद करे न करें। मैं बैग से एक पत्रिका निकालकर पढ़ने लगी। अच्छे लेख छपे थे। आकर्षक शीर्षक देखकर पढ़ना प्रारंभ करती पर कोई भी पूरा न पढ़ पाती। सामने वाला परिवार बार-बार ध्यान भंग कर देता। कभी वे बहुत तेज बातें करने लगते। कभी कोई बच्चा खाने की चीज खरीदने की जिद् करता और माँ उसे जोर-जोर से डपटने लगती। इतने पर भी यदि उधर ध्यान न दिया जाता तो उनका छोटा बच्चा आहिस्ता से आकर मैग्जीन पकड़ लेता या लटकते पल्लू को चुपके से खींच लेता। कुछ देर के लिए मैं उसके साथ बातों में लग जाती फिर उसकी माँ उसे अपनी ओर खींचती हुई मुझसे क्षमायाचना करती। मुझे कभी बच्चे पर तो कभी महिला पर दया आती। बेचारी अकेली जान सभी को सँभाल रही है। बड़े दोनों बेटे तो ताश खेलने में मशगूल थे। बीच-बीच में उनमें हुए विवाद को भी वह निबटाती। छोटे से बड़ी बेटी काफी शान्त थी वह चुपचाप यात्रियों की गतिविधियों को देख रही थी। उसका ध्यान मेरी बगल में बैठी वृद्धा पर था जो आँखें बन्द किए बुदबुदाती हुई कोई स्तुति कर रही थीं। इनके कानों में सोने के ठोस बुन्दें और हाथों में पतली-पतली चार चूड़ियाँ थीं। इनके पास सामान के नाम पर एक छोटा-सा बैग था जिसे वे अपने घुटनों के नीचे दबाए बैठी थीं। बुजुर्ग महिला जैसे ही आँखें खोलती तो लड़की उनकी ओर स्नेह भरी नजरों से देखती और उनसे बातें करने का प्रयास करती। पर लगता था उनका यात्राओं का अनुभव काफी परिष्कृत था। वे लड़की की ओर विशेष ध्यान न देकर आँखें बंद कर फिर अपनी प्रार्थना में लीन हो जाती। कभी-कभी बड़े लड़कों में से कोई लड़की को डाँट देता—'शुभी चुप रहो पूजा करते लोगों को परेशान नहीं करते।'' शुभी डाँट पर ध्यान दिए बगैर निरंतर वृद्धा पर ध्यान लगाए रही। हमारी सीट पर शेष सवारियाँ अस्थाई रूप से आ जा रही थीं। घण्टे आधा घण्टे बाद छोटे बड़े स्टेशनों पर कभी कोई महिला उतरती तो दूसरी आ बैठती, कभी कोई पुरुष कभी कोई वृद्ध। बच्चों ने इन आने-जाने वाली सवारियों को विशेष महत्त्व न दिया।

पूरे परिवार में छोटा बेटा ही सबसे गुणी निकला—उसने मेरी दोस्ती हासिल कर ली। मन के आगे तर्क बुद्धि हार गई और पत्रिका बैग में रख कर मैं बालक के साथ हँसने-बोलने लगी। वह शक्ल का जितना आकर्षक था बातों का भी उतना चतुर। मैं उससे उसका नाम बूझती तो वह भी तुरंत मेरा नाम बूझ लेता।

मेरे सवाल करने पर—"आप कहाँ जाएँगे?" उसने भी तुरंत सवाल किया—"आप कहाँ जाएँगी?" यदि कभी वह चूक जाता तो उसकी माँ तुरंत औपचारिकता सिखाने स्वरूप याद दिला देती—आप भी आण्टी से अमूक बात बूझो और वह चतुर बालक खोद-खोदकर मुझसे सवाल करता। मैं उसके चंचल बाल स्वभाव का आनंद लेते हुए अपनी यात्रा, परिवार और अपने विषय में विस्तार से बातें करती रही। इसी बीच फेरीवालों से दो बार खाने का सामान खरीदकर मैंने उसे दिया। हल्की-सी औपचारिक ना के बाद उसकी माँ ने मेरे द्वारा खरीदे सामान को लेने की स्वीकृति दे दी।

राहुल और मेरे बीच बढ़ती घनिष्ठता से पास बैठी बुजुर्ग महिला भी कुछ नम्र होने लगी और आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने भी उसकी बातों में रुचि लेना आरंभ कर दिया। मुझसे किए सवालों को राहुल ने उनसे भी दोहराया पर उन्होंने कुछ आधे-अधूरे ही जवाब दिए। हम लोग अब आपस में सहज होने लगे थे। कभी मौसम, कभी बाल स्वभाव, कभी महिलाओं की समस्याएँ तो कभी वर्तमान यात्रा से जुड़ी चर्चाएँ हम तीनों महिलाओं के बीच होने लगी। इन्हीं चर्चाओं में पता चला कि वृद्ध महिला का नाम निर्मला देवी है और वे अपने एक बेटे के यहाँ से दूसरे के यहाँ कानपुर जा रही है। वे बारी-बारी से अपने बेटों के यहाँ जाती रहती हैं उन्होंने यह भी बताया कि उनकी सावधानी से अभी तक उनकी यात्राएँ ठीक ही रही हैं। किसी तरह का कोई नुकसान नहीं हुआ है। इस पर राहुल की माँ मीना रानी ने अपना एक दुःखद यात्रा वृत्तान्त सुनाया।

तब उनके बच्चे और कम उम्र के थे। राहुल केवल साल भर का था। वे उसे दूध पिला रही थीं कि उनके देखते-देखते एक बदमाश उनका बैग और सूटकेस उठाकर भाग गया। जब तक वे सँभलती और सहायता के लिए किसी को पुकारती वह बहुत दूर निकल गया था। आगे की यात्रा उन्होंने बिना पैसे बच्चों के साथ कितने कष्ट से काटी उसको सुनते-सुनते हम महिलाएँ द्रवित हो गईं। उन्होंने बताया—"रिक्शा वाला हमें घर से फलाँग भर पहले ही उतारकर पैसा माँगने लगा और मुझे मजबूरीवश यह बताना पड़ा कि पैसे मेरे पास है ही नहीं। यदि वह हमें घर तक छोड़ देगा तो मैं उसे पैसे दे पाऊँगी। रिक्शेवाले ने करीबी दुकानदारों और लोगों को सुनाते हुए कैसे अपमानजनक शब्द मुझे कहे। पर क्या कर सकती थी, चुपचाप सुन लिया।" यह बताते हुए उस युवती की सुन्दर बड़ी आँखें सजल हो गईं। हम भी तन्मयता से उसकी कहानी सुनते हुए भावुक हो रहे थे। हमारी

भावनाओं को जाँचते हुए उसने अपनी करुण कथा में यह और जोड़ दिया कि उसे तो अकसर अकेले ही बच्चों के साथ यात्राएँ करनी पड़ती है। पति महोदय बिजनस करते हैं। इसी से कोई छुट्टी पाते ही नहीं। यदि उन्हें हमारे जैसी दो चार भली और सहयोगी महिलाएँ मिल जाती हैं तो सफर ठीक कट जाता है। वरना हर बार एक-न-एक मुसीबत का सामना करना पड़ता है। मेरे मन ने कहा पुस्तकों में नारी-विमर्श पढ़ना-पढ़ाना तो बेमानी है। असली नारी-विमर्श तो यही है कि बेचारी इन जैसी मजबूर की सहायता की जाए। पुरुष बच्चों की सारी जिम्मेदारी हम महिलाओं पर डालकर कैसे निश्चिंत हो जाते हैं? यदि हम ही एक-दूसरी की मदद न करें तो बच्चों की परवरिश असंभव हो जाए। इन दुःखद घटनाओं को सुनकर बुजुर्ग महिला का व्यवहार भी उनके प्रति स्नेहिल होने लगा।

उन्होंने अपनी रिश्तेदारी और पड़ौस की महिलाओं के ठगे जाने की घटनाएँ सुनाई और मीना रानी को ढाँढस बँधाने के लिए कुछ वाक्य कहे। उन्होंने अपने बैग से मठरी निकालकर बच्चों को खाने के लिए दी। अब तक हमारे बीच इतना रिश्ता बन चुका था कि बच्चों ने निःसंकोच सामान लेकर खाना आरंभ कर दिया न बच्चों ने माँ की अनुमति की आवश्यकता महसूस की और न ही माँ ने उन्हें टोकने की। अन्य यात्री भी सुनते, हाँ-हूँ करते धीरे-धीरे हमारी बातों में शामिल होने लगे। उनमे कोई अपने किसी परिचित के साथ हुई इसी तरह की घटना का बयान करता तो कोई अगल-बगल रखे अपने सामान को टटोलने लगता। कभी कोई महिला थोड़ी दूर पर बैठे अपने पति या बच्चों को सामान की निगरानी किए रखने की हिदायत देती।

गाड़ी की रफ्तार, बातों के लुफ्त और बच्चों की मधुर बातों के बीच पता ही न चला कब सुबह से दोपहर हो गई। पेट में कुल-बुलाहट होने लगी। घड़ी पर नजर डाली तो एक बज चुका था। समीपस्थ आण्टी को खाने का न्यौता देकर मैं अपना पैकेट खोलने लगीं उन बुजुर्ग महिला ने बताया कि वे एक समय ही भोजन करती है। घर जाकर खाएँगी। राहुल और शुभी को दो-दो पूड़ियाँ देकर मैंने अपना खाना आरंभ कर दिया। तभी राहुल की माँ ने मुझे हाथ से पीछे घूम जाने का संकेत करते हुए कहा—"अरे दीदी ऐसे नहीं उधर खाइए।" मैं उसकी बात का स्पष्ट अर्थ न समझ पाने के कारण उसकी ओर देखने लगी। वह बोली—"आप समझी नहीं। ऐसे सबके सामने मत खाइए। नजर लग जाएगी।"

हल्की हँसी के साथ मैंने कहा—"अरे, इसमें क्या, खाना ही तो है।" वह

एकदम चिंतित हो गई। और मेरे कान के पास मुँह रखकर फुसफुसाते हुए बोली—"लगता है आप बहुत भोली हैं और पहली बार अकेले सफर भी कर रही है। आपको अभी अंदाज नहीं है कि इस दुनियाँ में कितने बुरे-बुरे लोग है। दूसरे की हर चीज पर आँख गड़ाते हैं और खाने पर तो खास नजर लगाते हैं। यदि ऐसे किसी की नजर पड़ जाए तो समझो पहले का खाया भी बाहर जा जाए। पीछे मुँह करके खाइए।" उसके कहने में इतना अपनापन, इतना दुलार और एक तरह का अधिकार निहित था कि मैं उसकी बात टाल न सकी। मुँह पीछे घुमाकर बैठ गई। इस समय मुझे लगा मानो मैं कोई छोटी बच्ची हूँ और वह मेरी कोई बुजुर्ग। भोजन समाप्त कर मैं अपनी सीट पर पालथी लगाकर बैठ गई। अब सभी को हल्की-हल्की उबासी आने लगी थी। आण्टी तो जोर-जोर से खर्राटें ले रही थीं। उनका बैग अब सीट के नीचे रखा हुआ था और वे पहले जैसी शंकालु प्रतीत नहीं हो रही थी। गाड़ी छोटे-बड़े स्टेशनों पर रुकती जा रही थी। सवारियों की हर बार बदली हो रही थी। मुझे भी नींद आने लगी। कभी मैं आँखें खोलकर रखने का प्रयास करती तो कभी बंद कर लेती। मैंने अधखुली आँखों से कई बार मीना देवी को अपनी ओर ममत्त्वपूर्ण नजरों से देखते हुए देखा। उसकी आँखों से झलकता हुआ स्नेह मुझे मेरे अतीत की ओर खींच रहा था।

मुझे वो दिन याद आया जब माँ ने मुझे तीज के लिए नए कपड़े, चूड़ी और माला पहनाकर तैयार किया था और मेरे लाख विरोध करने पर भी काजल की छोटी-सी बिंदी मेरे माथे पर जड़ दी थी। झूला-झूलने जाते समय उन्होंने कहा था—"बिंदी मत छुड़ाना, नजर लगती है।" जैसे-जैसे मैं बड़ी हुई घनी-घनी चूड़ियाँ भी छूट गई और नजर की बिंदियाँ भी। घर में बड़े भाई थे जो इन दकियानूसी बातों का खूब मजाक उड़ाते थे मेरे लिए भी ये सब अर्थहीन होती गई। पर आज खाने पर नजर सुनकर मुझे न जाने कैसा लगा। मैं सोचने लगी क्या खाने पर भी नजर लगती है? हाँ निश्चित लगती होगी। तभी तो नानी हम बच्चों को खाना चौके में ही बैठकर खाने के लिए कहती थीं। अगर हम किसी बाहर वाले के समक्ष बैठकर खाते तो वे हमारा हाथ पकड़कर चौके में छोड़ आती। यद्यपि कभी उन्होंने ऐसा न कहा—खाने पे नजर लग जाएगी। पर उनके उस व्यवहार का अर्थ शायद यही था। आज लम्बे अरसे बाद मीना ने मुझे दूसरों की नजरों से बचाकर खाने की सलाह दी है। निश्चित ही यह मेरी पूर्व जन्म की कोई सम्बंधी रही होगी। वरना आज के समय में चंद घण्टों को साथ बैठ लिए किसी पर कौन इतना ध्यान देता

है। किसको ख्याल होता है कि कौन क्या खा रहा है? कैसे खा रहा है? आज तो सभी अपने में सिमटकर रह गए हैं। इस आपाधापी में घरवालों का ख्याल रखना ही मुश्किल है फिर गैर के लिए सोचने का समय कहाँ है?

राहुल, शुभी और उनके दोनों बड़े भाई मिलकर लुका-छिपी जैसा कोई खेल खेल रहे थे। वे दौड़ते हुए कभी किसी यात्री पर गिर जाते तो कभी किसी के सामान पर। उनकी माँ बीच-बीच में उन्हें बुलाकर अपने पास बैठा लेती, लेकिन कुछ देर बाद खेल फिर शुरू हो जाता। मैंने सोचा बच्चे तो बच्चे ही होते हैं। उन्हें तो खेल का जरा-सा मौका मिल जाए तो बस फिर क्या, खेल शुरू। इन्हीं सब विचारों और अर्द्ध निद्रा में दो घण्टे बीत गए। ट्रेन में अन्दर बाहर चाय गर्म चाय गर्म की आवाज से यात्रियों की आँखें खुलने लगी। मन हुआ एक कप गर्मा-गर्म चाय पी जाए। निर्मलाजी ने अभी तक कुछ भी न खाया था। उन्होंने भी चाय पीने की इच्छा जाहिर की। मैं लघु शंका को चली गई। सोचा अभी लौटकर चाय ली जाए। इस समय गाड़ी एक छोटे स्टेशन पर रुकी थी।

मैं जब पाँच-सात मिनट बाद लौटी तो बोगी में हमारी सीट के करीब से उठते शोरगुल को सुनकर मैं तेज कदम बढ़ाते हुए अपनी जगह पहुँची। वहाँ का नजारा देख मैं भौंचक्की रह गई। निर्मला देवी जोर-जोर से ''पकड़ो-पकड़ो चोर-चोर।'' चीख रही थी। और गिरती पड़ती दरवाजे की ओर भाग रही थीं। गाड़ी धीरे-धीरे सरकने लगी थी इसी समय यात्रियों के बताने से मुझे पता चला कि हमारे सामने जो महिला बैठी थीं वे हमारा सामान लेकर भाग गई है। बूढ़ी माई उसी को पकड़ने के लिए चिल्ला रही है। पर अब चलती गाड़ी से कौन उतरे? मैंने भी जल्दी से खिड़की के बाहर झाँका तो मेरी हैरानी का ठिकाना न रहा। वह मासूम-सा, नाजुक-सा राहुल जो कुछ देर पहले हमारी गोद में बैठ रहा था। माताजी का बैग अपने सिर पर रखे सामने मैदान में तेजी से दौड़ रहा था। दो बड़े लड़के एक-एक सूटकेस उठाए दौड़ रहे थे। शुभी और मीना देवी का कहीं पता न था। गाड़ी ने रफ्तार पकड़ ली। माताजी जोर-जोर से विलाप करने लगी। कुछ लोगों ने उन्हें पकड़कर सीट पर बैठा दिया। मैंने पलटकर अपने सामान का जायजा लिया। मेरा सूटकेस गायब था। माताजी को पानी पिलाकर शांत किया गया। जब उनका रोना कुछ बंद हुआ तो उन्होंने बताया—''मैं चाय वाले को बुलाने के लिए खिड़की से बाहर झाँक रही थी कि वही लड़की शुभी जो सुबह से हमारे साथ बैठी थी बाहर से आकर अचानक मेरे सामने खड़ी हो गई और एक साथ उछलकर तेज झपट्टा मारा

और मेरे कान का बुँदा खींच लिया। फिर ट्रेन में पीठ की ओर भागती हुई बोली—"माताजी नमस्ते।" इससे मेरी चीख निकल गई। जब मैंने पीठ मुड़कर देखा तो पूरा खानदान ही गायब था। साथ ही मेरा बैग और आपका सूटकेस भी।" अन्य कई सवारियों के बैगों से भी पर्स गायब थे। मैं ठगी खड़ी रह गई। मेरे मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल रहा था। माताजी के कान से खून बह रहा था। जिसे वे रुमाल गीलाकर रोकने का प्रयास कर रही थी। उनका एक बूँदा चला गया था। वे विलाप कर रही थीं। अब जोड़ा खराब हो गया, उनके बेटे ने बड़े शौक से उनके लिए बनवाया था। मैंने धीरे से कहा—"पर मेरे तो दोनों ही बूँदे सूटकेस में थे।" एक यात्री ने बात पूरी कर दी—"तब ठीक है जोड़ा मिलने का काम ही खत्म।"

ऊपर की बर्थ पर मीना रानी के रखे दो फटे बैग और टूटा सूटकेस हम ठगे गयों को मुँह चिढ़ा रहे थे। कानपुर आया। माताजी उतर गई। पर मुझे अभी इलाहाबाद तक अपनी यात्रा पूरी करनी थी।

चक्कर एडवांस का

टैम, स्मार्ट, मैडम और एडवांस जैसे अंग्रेजी शब्दों से गुड्डो को भी उतना ही लगाव था जितना हर हिन्दुस्तानी को। होता भी क्यों न। ये शब्द किसी धर्म या सम्प्रदाय की धरोहर तो हैं नहीं। अतः गुड्डो साधिकार इनका प्रयोग करती थी। उसने इनके लाभकारी पक्ष को बखूबी पहचान लिया था। आड़े वक्त में ये उसकी आय और बचाव का साधन थे। गुड्डो लगभग बीस वर्ष की, साँवले रंग, नाटे कद और मध्यम तंदरुस्ती की युवती थी। उसकी मोटी नाक और बड़ी-बड़ी आँखें उसके चेहरे पर फब्ती थी। वह अपनी सामर्थ्य भर खूब बन सँवरकर रहती। झुमके, पायल, नथनी, घनी-घनी चूड़ियाँ और चटख रँगों की साड़ियाँ उसकी शौकीन मिजाजी की गवाह थीं। पिछले तीन वर्षों से वह मेरे यहाँ घरेलू काम करती थी। स्वभाव की हँसमुख और समय की पाबंद होने से वह मुझे पसंद थी और लगभग प्रत्येक माह बँधी पगार के अतिरिक्त सौ दो सौ रुपये का घरेलू सामान पा जाने से वह भी मेरे यहाँ खुश थी। यह खुशी का संबंध एक वर्ष आराम से चला। मगर उसके बाद गुड्डो के एक शब्द एडवांस ने मुझे परेशान करना आरंभ कर दिया। परन्तु वह उसका प्रयोग सोच-समझकर करती थी। घर में कोई बीमार है, बच्ची की स्कूल फीस देनी है, मेहमान आए हैं या जरूरी कहीं रिश्तेदारी में जाना है जैसे कारणों से वह दो-चार सौ रुपए एडवांस माँगती थी और एडवांस का अर्थ समझते हुए स्वेच्छा से उन्हें मासिक वेतन में कटवाने का प्रयास भी करती थी। परन्तु एक एडवांस समाप्त होते ही वह अगले का तकाजा कर देती थी। कुछ माह बाद मैंने इससे समझौता कर लिया और मुझे एहसास हुआ कि मात्र मजबूरी में ही वह माँगती है, फिर लौटा भी देती है तो दस बीस दिन पहले पैसे दे देने में कोई बुराई नहीं है।

तीसरे वर्ष गुड्डो के एडवांस का प्रसार होने लगा। वह महीने की पहली

तारीख को ही घोषणा करने लगी—"भाभी इस महीने हम पान सौ रुपया एडवांस लई है।" कुछ नए बहाने भी उसके दिमाग से उपजने लगे। इन वर्षों में मैं गुड्डो के काम की आदि हो गई थी अतः कभी झुँझलाहट और कभी सहजता के साथ मैं उसके एडवांस को बर्दाश्त करने लगी। जिस दिन वह न आती घर का पूरा काम मुझे अकेले सम्भालना मुश्किल हो जाता। कम काम भी पहाड़ जैसा दिखता। अपने आराम और लिखाई के घण्टे छोड़ने मुझे बहुत खलते। शाम होने तक मैं थक जाती और घर के किसी-न-किसी सदस्य से नोक-झोंक हो जाती। अगली सुबह मैं बेताबी से गुड्डो का इंतजाार करने लगती। यदि उसके आने में कुछ देर हो जाती तो विशेष इच्छा न होते हुए भी एक कप चाय बनाकर पीने बैठ जाती। इस समय मैं या तो पेपर पढ़ती या टी.वी. देखती परन्तु यह सब सच न था वास्तव में मैं गुड्डो का इंतजार कर रही होती और इसी समय उसके आ जाने से मुझे गहरा आत्मिक सन्तोष मिलता। इस समय मैं उसकी सारी जिद् और बुराइयों को भूल जाती। उसके वायदे पर आ जाने से मुझे खुशी होती। मैं मन-ही-मन सोचती चाहे जो बुराई हो पर एक बात तो इसकी अच्छी है वायदे पर आ जाती है। उसके इस गुण की चर्चा हम चार-पाँच पड़ौसने अक्सर किया करती। स्वयं गुड्डो को भी अपने इस गुण पर नाज था। वह इसका खूब प्रचार करती और भरपूर लाभ लेती। अपने इस गुण से वह आसानी से छुट्टियाँ ले लेती। दूसरी मेहरियों से खुद को अच्छा मानती और मौका पाते ही उन पर इसका रौब भी जमा देती। त्योहारों और खुशी के अन्य मौकों पर दूसरी कामवालियों से अधिक पैसा खाना और कपड़ा पा जाती।

धीरे-धीरे गुड्डो के एडवांस का भेद खुलने लगा। उसने किसी की बीमारी का बहाना बनाकर लिए एडवांस से टी.वी. खरीदा है, कभी पायल खरीदी है और कभी तीर्थ यात्रा को चली गई है—ऐसी सूचनाएँ मिलने लगी। यह सब उसकी पड़ौसन कामवालियाँ ही बीवीजियों को बता जाती थी। अतः बीवीजियाँ सतर्क होने लगी और गुड्डो को मिलने वाले एडवांस में खींच होने लगी। अब उसकी हर महीने कोशिश होती कि कोई नया बहाना बनाकर एडवांस माँगा जाए और बीवीजियों की कोशिश होती कि उसे एडवांस न दिया जाए। इसी के चलते मैंने भी उसे एडवांस देने में खींच करनी आरंभ कर दी। वह पाँच सौ रुपये माँगती तो मैं दो सौ ही देती। वह दो सौ रुपये माँगती तो सौ ही देती और कभी-कभी हफ्ता भर टला भी देती। मेरे स्वभाव में बदलाव की वजह उसकी एडवांस माँगने और एडवांस को अन्यत्र खर्च करने की आदत तो थी ही साथ ही एक और अहम

कारण भी था—एडवांस पा जाने पर गुड्डो का काम में लापरवाही बरतना। अतः मैंने धीरे-धीरे यही मन बना लिया कि अब वह चाहे जो बहाना करे उसे एडवांस नहीं देना है। मैं अक्सर पैसा न होने या मेहमानों के आ जाने का बहाना करती और गुड्डो अपने पक्ष को मजबूत रखने के लिए मजबूरियों के नए-नए बहाने खोजने लगी। हमारे बीच खींच-तान बढ़ने लगी। इसमें अधिकतर जीत गुड्डो की होती। उसे घर में महीने का खर्च आने की तारीखों का अंदाज लग गया था। इन दिनों वह खूब मन लगाकर काम करती और भावुक प्रसंग सुना-सुनाकर मुझे इन्सानियत और दयालुता को उकसाती रहती। फिर एक दिन कोई गम्भीर बहाना बनाकर चार सौ पाँच सौ रुपए झटक ले जाती घर में पैसा रहते मैं उसे इन्कार न कर पाती। यह बात अलग थी कि पैसा देते समय आगे एडवांस न मिलने की हिदायत उसे देती और उसके चले जाने पर अपनी कमजोरी का एहसास करते हुए भविष्य में दिल कड़ा रखने के लिए खुद को तैयार करती। यदि कभी गुड्डो के पाँच सौ रुपए माँगने पर मैं उसे दो सौ ही में टाल देती तो अपनी जीत की खुशी से मैं रोमांचित हो जाती। मैं मन-ही-मन महसूस करती कि मात्र गुड्डो ही होशियार नहीं है मैं भी अपनी गृहस्थ को किफायत से चला सकती हूँ।

एक दिन पिछले छः महीने का हिसाब लगाने पर मुझे पता चला कि गुड्डो के पास अभी पाँच सौ रुपए एडवांस है। इसीलिए मैंने सोचा कि अब दो तीन महीने तक उसे एक पैसा भी एडवांस नहीं देना है। इसके करीब एक सप्ताह बाद मैं कुछ लिखने में व्यस्त थी। गुड्डो रोज के नियम से ठीक छः बजे आई। उसने चुपचाप काम शुरू कर दिया। "भाभी हटें" सुनकर मैंने उसकी ओर कुछ सैकेंड देखा। कमरे की सफाई करने के लिए वह मुझे उठ जाने को कह रही थी। मैं दूसरे कमरे में चली गई। मुझे गुड्डो कुछ उदास लगी। गुड्डो का यूँ उदास हो जाना कोई नई बात नहीं थी। यह एडवांस माँगने की उसकी भूमिका का एक हिस्सा था। अतः मैंने उस ओर विशेष ध्यान न दिया अपना काम करती रही और गुड्डो भी अपना काम निबटाकर चुपचाप चली गई। शाम के समय वह न आई फिर अगली सुबह भी नहीं। गुड्डो की ढूँढ़ शुरू हुई पता चला वह पूरी कालोनी में किसी के यहाँ भी नहीं आई है। अगली शाम गुड्डो आई एकदम उखड़ी-उखड़ी वेतरतीब। घर में कदम रखते ही उसने एलान किया—"भाभी हजार रुपया एडवांस दई है। वहुत जरूरी है।" मैं चुप रही। वह काम में जुट गई। तुरन्त हजार रुपए उसे दे पाना मेरे लिए संभव न था कुछ देती भी तो उसकी अचानक की छुट्टी और पहले के एडवांस से मैं खफा थी। अतः मैने साफ-साफ कह दिया—"इस महीने

कोई एडवांस नहीं। पहले पिछला हिसाब पूरा करो।" मेरा कड़ा रुख देखकर वह चली गई। उसने अन्य घरों में भी एडवांस माँगा और सब जगह उसे उस दिन निराशा ही हाथ लगी। इस बार उसका एडवांस माँगने का कारण पति का बीमार होना था। उसके कहे अनुसार वह उल्टी-दस्त से परेशान था और नर्सिंग होम में भर्ती था। पर इस सच्ची कहानी को सबने एडवांस लेने का नया बहाना माना। गुड्डो दो सप्ताह गायब रही। ऐसा करने का उसका यह पहला अवसर था। आपसी चर्चा में हम बीवीजियों ने यही तय पाया कि यह गुड्डो का एडवांस माँगने का चक्कर है। इसीलिए कोई भी उसके प्रति द्रवित न हुआ और न ही अन्य कामवालियों से उसके विषय में जानने की किसी ने उत्सुकता दिखाई। धीरे-धीरे गुड्डो का इंतजार कम होने लगा। अपनी-अपनी सुविधा से सबने नई मेहरियों की खोज शुरू कर दी। कुछ को मिल भी गई। मैंने भी गुप्ताजी के यहाँ खबर भेज दी कि कामवाली को भेज दें। गुड्डो के आने की उम्मीद लगभग समाप्त हो चुकी थी और एडवांस तो गया ही समझो।

दोपहर करीब एक बजे सब काम से निवृत्त होकर मैं एक पत्रिका पढ़ रही थी। मैं गुड्डो को भूल जाना चाहती थी। पर न जाने क्यों मैं जब भी फुर्सत में होती उसका चेहरा मेरे सामने आ जाता। हँसता चेहरा, गुनगुनाता चेहरा, नई-नई नथनियों और पूरी भरी माँग से सजा सँवरा चेहरा, एडवांस की माँग करता दृढ़ और जिद्दी चेहरा और अंत में उदास उखड़ा-उखड़ा बिना सजा सँवरा चेहरा। मैंने सोचा कितने रूप बदल लेते हैं ये लोग अपने जरा से लाभ के लिए। परन्तु मेरा सोचा जरा-सा गुड्डो के लिए जरा-सा न था। उसमें उसकी बड़ी-बड़ी उम्मीदें, उच्च आकाँक्षाएँ, जीवन की रँगीनियों और खुशियाँ निहित होती थी। मैं फिर पत्रिका पढ़ने का प्रयास करने लगी। तभी गेट खटखटाने की आवाज हुई। यह बिलकुल गुड्डो के गेट खटखटाने जैसी आवाज थी। मैंने बाहर झाँका सच में गुड्डो ही थी। वह आकर चुपचाप लॉन में बैठ गई। बात मैंने ही शुरू की—"कहाँ गायब हो गई थी इतने दिन?"

"वो मर गया।"

"कौन मर गया।"

"वही हमार मनिक।"

"अरे! क्या हुआ।"

गुड्डो गहरी साँस खींचते हुए बोली—"उई दिना हम सबसे एडवांस माँगत रहे। वो अस्पताल में भर्ती रहा। मर गवा।"

इस समय गुड्डो के चेहरे पर एडवांस न मिलने से कोई नाराजगी नहीं थी। मेरी सांत्वना से उसका दिल भर आया। वह सिसकने लगी और रोते-रोते ही बोली—"उई की वजस से इत्ता काम करी हम। आप सब लोगन से एडवांस लेई लेई उका सब शौक पूरा करी। हमका छोड़ गया भाभी।"

कुछ देर बाद गुड्डो शान्त हुई। मैंने बूझा—"अब क्या करेगी गुड्डो।"

वह बोली—"हम कल से काम करी।"

मैंने कहा—"ठीक है।"

कुछ देर बाद वह उठकर चली गई। अगले दिन अपने नियत समय पर आकर गुड्डो ने काम सँभाल लिया। पूरे महीने उसने बगैर एडवांस माँगे और बगैर कोई छुट्टी लिए काम किया। एक दिन पूरा काम करने के बाद गुड्डो ने कहा—"भाभी आज हमका चाय पिलाय दें।" ऐसा वह बहुत कम कहती थी। मैंने दो कप चाय बनाई एक उसे थमाकर एक कप अपनी लेकर सोफे पर बैठ गई। गुड्डो भी मेरे सामने आकर जमीन पर बैठ गई। चाय खत्म होते-होते तक गुड्डो ने कहा—'अब हम कल से न आई। मौसी के पास कानपुर जा के रही। अब यहाँ हमार दिल नाहीं लगत है।" एकाएक मुझे उसकी बात पर विश्वास न हुआ। इसीलिए उसकी बात का कोई जवाब भी न दिया। गुड्डो ने फिर कहा—"अब हमार हिसाब पूरा होई गवा भाभी। पाँच सौ रुपया हम एडवांस लिए रही, सो पूरा महीना काम कर दी।"

कुछ देर बाद गुड्डो चली गई और मैं अपने काम में व्यस्त हो गई। चार, छः दिनों में गुड्डो ने बाकी घरों में भी हिसाब पूरा कर लिया और सच में एक दिन वह चली गई। सभी ने दूसरी कामवाली रख ली। मेरे यहाँ भी उसकी पड़ौसन सुमन काम पर आने लगी। गुड्डो इस शहर से जा चुकी है यह जानते हुए भी न जाने क्यों कभी-कभी अनायास ही मेरे मुँह से सुमन के लिए गुड्डो नाम निकल जाता। ऐसे ही एक समय सुमन ने बताया—"गुड्डो की मौसी का दामाद उससे शादी करने की कह रहा है। घरवाली मर गई है। बूढ़ा चार बच्चों का बाप है। गुड्डो का पसंद नाही।"

"तो क्या गुड्डो अब ब्याह नहीं करेगी?"

''करी।''

''अपने से इत्ती नीक है तब बुढ्ढे से थोरऊ करी?''

''मौसी भी कहे तो?''

''इसी से तो किसी और रिश्तेदार के यहाँ चली गई है।

मुझे गुड्डो का चेहरा फिर याद आने लगा।

मुझे लगा इस बार वह पिछले देखे चेहरों से भिन्न खुद्दार, स्वाभिमानी, एकाकी, उदास और सूनी आँखों वाला चेहरा है। साथ ही महसूस हुआ मानो गुड्डो एक ऐसे जीवनसाथी की तलाश में है जिसके लिए वह बने-सँवरे, पायल और नथनी पहने, कोठियों पर मेहनत से काम करे और उसके शौक पूरा करने के लिए बीवीजियों से नए-नए बहाने बनाकर एडवांस का चक्कर चला सके।

लम्बी चोटी

लम्बी चोटी की लचक भी क्या खूब चीज है। वो जिसे नसीब हो जाए उसके पूरे बदन को ही लचीला बना देती है। कमर के बीच लटकी हो तो चाल आप ही लहरिया हो जाती है और आगे लटके तो सिर से पैर तक बदन लोचदार। कुछ गजरों के साथ गूँथी लम्बी चोटी जब गर्दन का स्पर्श करती हुई पेट और कूल्हे पर बारी-बारी से लोटती है तो लम्बी चोटी वाली का हर अंग मानो उसके स्पर्श को उतावला हो उठता है, आँखें बार-बार चोटी का रूप निहारती हैं, होंठ अनायास ही मंद-मंद मुस्कान से भर जाते हैं, गर्दन टेढ़ी होकर शायद चोटी के भार की अधि ाकता का बयान करती है और हाथ उसे सहलाने को रह-रहकर बढ़ते हैं। ऐसी लम्बी चोटी हमेशा से मेरी कमजोरी रही। जो मात्र मेरे विचारों में ही घूमती रही। हकीकत में न कभी मेरी कमर पे लहराई न पेट पे झूली। पर बचपन से ही लम्बी चोटी वालियों से मेरी घनिष्टता सदा बनी रही। ऐसी ही घनिष्टता वालियों में मेरी एक सखी थी, मुन्नन। हम साथ-साथ पले-बढ़े और अपने-अपने शोध कार्य के सिल-सिले में घंटो शहर में साथ-साथ घूमें। एक का घर शहर के इस छोर पर तो दूसरी का दूसरे छोर पर। पर समय के पाबंद। जहाँ भी पहुँचना तय हुआ वहाँ पाँच मिनट से अधिक किसी को किसी का इंतजार न करना पड़ा। साथ ही शोध प्रबंध ा जमा हुआ और फिर आम मध्यम परिवारों की तरह लड़की की जिम्मेदारी से निबटने की चर्चा हम दोनों के घरों में होने लगी।

यहाँ पहल हमारे घर से हुई। सब कुछ साधारण वालों का रिश्ता सब कुछ साधारण वालों के ही यहाँ हुआ। बल्कि यूँ कहें मायके से भी अधिक रूढ़ियों, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं एवं धर्म-जात में पूर्ण निष्ठा वाली ससुराल मुझे मिली। एक शिक्षक के दिये संस्कार दूसरे के घर सहज ही पल्लवित होने लगे। पर उधर मुन्नन? हाँ, मुन्नन की शादी होते-होते करीब डेढ़ वर्ष लगा। उसकी शादी से

पहले मैं जब भी मायके जाती उससे जरूर मिलती। अधिकतर तो मेरे आने की सूचना पाकर वह स्वयं ही मिलने चली आती। हम विगत वर्षों की याद करती और फिर मुन्नन की शादी के प्रयासों की चर्चा के साथ हमारी बातें खत्म हो जाती। यद्यपि मुन्नन नौकरी कर रही थी और शादी के मुद्दे पर वेफिक्र थी मगर उसकी हम उम्र रिश्तेदार लड़कियों और सखियों की शादियाँ हो जाने के कारण उसके परिवारजन अब अधिक इंतजार के इच्छुक न थे। उसके आगे पढ़ने पर तो वे विराम लगा चुके थे। अंकल-आण्टी उसकी शादी की पूरी कोशिश में लगे थे। लेकिन कुछ मुद्दों पर बात बिगड़ जाती थी। जैसा कि मुन्नन के परिवार का पूर्णतया शाकाहारी होना, मुन्नन का पारम्परिक रहन-सहन, मुन्नन की माँ का धर्म, भगवान और जन्मपत्रियों में अत्यधिक विश्वास।

एक बार मुन्नन ने बताया—"इस बार बात पक्की थी लेकिन तभी पापा के एक दोस्त ने खबर लाकर दी कि लड़का माँस-मदिरा का सेवन करता है। बस वे आगे नहीं बढ़ पाये।" मुन्नन स्वयं भी नहीं चाहती थी कि उसकी ससुराल माँसाहारी हो। पर कायस्थ जाति में अच्छी नौकरी वाला लड़का उनकी मान्यताओं के अनुरूप मिलना कठिन था। इसीलिये उनके एक शुभचिंतक रिश्तेदार ने सलाह दी—"आप इन बातों को नजरअंदाज कीजिए। लड़की सयानी हो रही है।" एक दिन सच में मुन्नन के पापा ने अपनी मान्यताओं को नज़रंदाज कर उसकी शादी तय कर दी। लड़का सुन्दर, पढ़ा-लिखा और समृद्ध परिवार का था और किसी बड़ी कम्पनी में मैनेजर के पद पर कार्यरत था।

मुन्नन की शादी की सूचना पाते ही मैं उसके विभिन्न लिबासों में सजे-सँवरे रूप की कल्पना करने लगी। लहँगा-चुनरी, साड़ी, सलवार-कुर्त्ता जैसे लिबासों में मुन्नन मेरी कल्पनाओं में रहती और उन सभी में केन्द्र बिन्दु उसकी लम्बी चोटी होती। कभी उसकी चोटी हल्के रंग की साड़ी पर कमर के बीच लहराती तो कभी चटख रंग के सलवार-कुर्ते के साथ सुन्दर-सा मोतियों वाला चुटिलना गूँथी आगे लटकी होती।

सच यह मुन्नन की चोटी ही थी जो उसे सामान्य रंग-रूप की होते हुए भी हमारे बीच आकर्षण का केन्द्र वना देती थी। यदा-कदा वह खुले बाल विश्वविद्यालय आ जाती तो हम सहेलियाँ उसे कहती—"ऐसे क्यों चली आई। कहीं बालों को टोक लग गई तो।" मुन्नन जोर से हँसती और बालों को गर्दन के झटके और हाथ के सहारे से कमर की ओर ढकेल देती। तब हम में से कितनी ही लड़कियाँ

मन-ही-मन सोचती अपनी ऐसी चोटी क्यों न हुई? इन्हीं स्मृतियों और आगामी ख्वाबों के बीच दो महीने तेजी से बीत गये। मुन्नन की शादी का निमंत्रण आ गया। मैं भाई के साथ मायके आई और मुन्नन की शादी में शामिल हुई। उसके रिश्तेदारों और ससुराल वालों से मेरा परिचय हुआ। पूरी रात शादी की रस्मों में बीत गई। सुबह विदाई हुई और मुन्नन ससुराल चली गई।

मायके में घरों की दूरी जैसी दूरी हमारी ससुरालों में भी रही। एक देश के पूर्वी कोने में तो दूसरी पश्चिम में। कभी मुन्नन मायके आती तो मैं न होती और मैं आती तो वह न होती। हम दोनों एक दूसरों के परिवार वालों से मिलकर ही लौट जाती। हमारे पारिवारिक संबंध घनिष्ठ थे। इसी से यह मिलन भी आनंददायक होता। हम इस तरह एक दूसरी की विस्तृत चर्चा सुन लेती। हमारे सीधे संवाद पत्रों के माध्यम से होते। टेलीफोन आज जैसा आम न था। मुन्नन का पहला पत्र आया जिसमें उसके बड़े परिवार के सदस्यों का परिचय था। वह अपनी जेठानी से खूब घुल-मिल गई थी। उसका सानिध्य उसे मायके की कमी नहीं खलने देता। उसके दो प्यारे बच्चे थे जो मुन्नन के लिये नए दोस्त थे। मुन्नन उनके विषय में भी खूब लिखती। मैं भी उसके पत्रों का विस्तृत जवाब देती। मेरी ससुराल का परिवार छोटा होने से मेरे पास अपने परिवार के विषय में लिखने के लिये अधिक न होता। मैं शहर, इलाके की ख़बरें ज्यादा लिखती। धीरे-धीरे हम दोनों की गृहस्थ का प्रसार हुआ और हमारे बीच के पत्रों का सिलसिला धीमा पड़ने लगा। बाद के मात्र चार पत्रों ने हमारी जिंदगी के चार साल घटा दिये। पत्र आने पर हम एक दूसरी को कई दिनों तक जवाब न देती और यह समयावधि निरंतर बढ़ती चली गई।

यूँ ही तीन वर्ष और बीत गये। मैं गर्मी की छुट्टियों में मायके गई। एक दिन भाभी के साथ घूमने निकली। लौटते समय हम मुन्नन की गली के सामने से होकर गुजरे तो न जाने क्यों मेरा मन उस गली में जाने को ललक उठा। मैंने भैया से गाड़ी रोकने को कहा। वे तुरंत मेरे मन की बात ताड़ गए। बोले—"मुन्नन के यहाँ जाओगी क्या?" मैंने छोटी-सी 'हूँ' के साथ गर्दन सहमति में हिलाई। भैया बोले ठीक है—"जब लौटने का मन हो फोन कर देना। सोनू लेने आ जायगा।", "ठीक है।" कहकर मैं गाड़ी से उतर गई और तेज कदमों से उस जानी पहचानी गली में बढ़ चली। कदम नपे-तुले अंदाज में ठीक मुन्नन के घर के सामने जाकर रुके। कुछ मिनट घर को बाहर ही से निहारती रही। मन में घर में जाने का उत्साह

भी था और एक लम्बा समय अन्तराल हो जाने से थोड़ी सकुचाहट भी। तभी अन्दर से आवाज आई—"कौन है?" यह आण्टी की परिचित आवाज थी जिस पर इस कालांतर का विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। उसे सुनकर मेरा उत्साह दोगुना हो गया। मैंने जोर से आवाज लगाई—"आण्टी गेट खोलिये। मैं सलोनी।" शायद वे मेरी आवाज पहचान गई थीं जिसने उन्हें भी उत्साहित कर दिया था। उन्होंने शीघ्र ही गेट खोल दिया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा और बड़े स्नेह से अन्दर ले गई।

अंकल मुझे आश्चर्य से देख रहे थे। मैंने कहा, "अंकल मैं सलोनी। पहचाना नहीं?" "अरे पहचानेंगे क्यों नहीं? पर तुम मुन्नन के आने की बात कैसे जान गई?" आण्टी बोली—"लो! इसमें क्या है। दोनों सहेलियों की फोन पर बात हुई होगी।" "नहीं मेरी तो मुन्नन से कोई बात नहीं हुई । क्या वह आई हुई है?" अंकल बोली—"आई नहीं बस आने ही वाली है थोड़ी देर में।" "अरे वाह यह तो खूब रही। मैं तो आप ही लोगों से मिलने आई थी। अब उससे भी मिल लूँगी।"

आण्टी दो कप चाय बना लाई। मैं अंकल के साथ बातें करती हुई चाय पीने लगी। अंकल यह जानकर खुश हुए कि मैं लिखती-पढ़ती रहती हूँ। फिर कुछ उदास से बोले—"बेटा मुन्नन का तो सब छूट गया। उसे अब पढ़ाई-लिखाई में न रुचि है न फुर्सत। दिनभर किट्टी-पार्टी, क्लब, पार्लर यही सब कुछ। यहाँ की सारी बातें तो वो जैसे यही छोड़ गई है।" तभी गाड़ी के हार्न की आवाज सुनकर अंकल गेट की ओर चले। बोले—"शायद मुन्नन आ गई।" मैं भी चाय खत्म कर गेट पर जा खड़ी हुई।

गली के दूसरे छोर पर ग्रे कलर की एकदम नई गाड़ी रूकी। जिसमें से दो बच्चे और दो युवतियाँ उतरी। दोनों जीन्स-शर्ट पहने थीं। मुन्नन के पापा गाड़ी की ओर बढ़ गए और माँ रसोई छोड़कर बरामदे में आ गई। मैंने बड़ी मायूसी से पीछे हटते हुए कहा—"आण्टी मुन्नन तो नहीं आई।" आण्टी बोली—"ऐसा कैसे होगा? दिल्ली से चली है और यहाँ नहीं पहुँचेगी।" तभी बच्चे तेजी से दौड़ते हुए आये और नानी-नानी कहते हुए आण्टी से लिपट गए। वे अभी बच्चों से मेरा परिचय भी न करा पाई थीं कि मुन्नन आकर मेरे गले लग गई। मैं अचंभित खड़ी रह गई। कुछ सैकेंड बाद मैंने भी उसके गले में बाँह डाल दी। यह बिछुड़ी दो सखियों के साथ दो संस्कृतियों का भी मिलन था। अनजाने में ही, हम अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार दो अलग दिशाओं में बढ़ती रहीं थीं और इस क्षण हम बिसरी यादों को समेट लेने की कोशिश कर रही थीं। जो भी हो हम दोनों असीम आनंदित थीं। पर

मेरा मन कुछ छूट गया ढूँढ़ रहा था और मुन्नन का छोड़ गए को टटोल रहा था। हम आहिस्ता से अलग हुए। मेरा हाथ मुन्नन के कंधों से फिसलकर कमर पर होता हुआ पीछे हट गया। मन ने कहा यहाँ कुछ था अब नहीं है। मुन्नन ने मेरे कंधे से हाथ सरकाकर मेरी साड़ी के पल्लू पर थाम दिया और मेरी साड़ी का सितारों वाला भारी पल्लू कुछ मिनट को मुन्नन के हाथ पर लहरा गया। हम एक दूसरी का हाथ थामें कमरे में आई। आण्टी ने जल्दी ही चाय-नाश्ता लगा दिया। मैंने मुन्नन से धीरे से कहा—"हम यहीं चाय पियेंगे।" कुछ देर तो साथ बैठ लें। मुझे जल्दी वापस जाना है। मुन्नन ने कहा—"माँ हम दोनों की चाय यहीं दे दो।" आण्टी चाय दे गई।

थोड़ी औपचारिक बातों के बाद मैंने मुन्नन से सीधा सवाल किया—"तुम्हारी चोटी कहाँ गई?" मुन्नन ने वर्षों पुराने उसी तेज ठहाके के साथ गर्दन को झटका दिया। पर आज उसकी लम्बी चोटी कमर की और उछल जाने को न थी। छोटे-छोटे बालों का एक गुच्छा कुछ हिला और फिर अपनी जगह झूलने लगा। मुन्नन ने कहा—"वह तो बहुत पहले कट गई। अब मैं जीन्स अधिक पहनती हूँ। सभी कहते थे इस पर लम्बी चाटी नहीं जँचती, सो कटवा दी।"

भगत

लम्बा इकहरा शरीर, तीखे नाक-नक्श और साँवला रंग, हरदम मुस्कराता, मजाक करता और मजाक का पात्र बनता अपनी ही दुनियाँ में मस्त—ऐसा था भगत। उसका भगत नाम किसी देवता की भक्ति के कारण नहीं वरन् उसके भोले और सरल स्वभाव के कारण था। वह बच्चों, बूढ़ों सभी के लिए भगत था। पंचायत की जमीन पर एक झोंपड़ी, खुरपा, फावड़ा, चार-छः बरतन, फटे-पुराने कपड़े और बिस्तर—बस इतनी ही जायदाद थी भगत की।

भगत पाँच साल का था जब महामारी में उसका पूरा परिवार खत्म हो गया। उसे बस सपना-सा याद था किस तरह दो ही दिनों में उसके माँ-बाप और बड़े दो भाइयों को एक के बाद एक गठरी बनाकर नदी में बहा दिया गया था। भगत की मौसी आकर उसके साथ रहने लगी पर उसका जर्जर शरीर दो साल से अधिक न चल पाया और माह की ठिठुरती एक रात को उसने भी भगत का साथ छोड़ दिया। भगत ढोर चराने वालों के साथ जंगल जाने लगा। वहीं उसका दिन कट जाता और शाम को उसे किसी-न-किसी घर में खाना और रहना मिल जाता।

भगत की गर्मियाँ जमीन पर टाट बिछाकर सोने से निकल जातीं। सर्दी में तरस खाकर कोई भी अपने पशुओं के कोठरे में एक तरफ उसकी पुआल बिछा देता और कोई पुराना कम्बल या रजाई उसे मिल जाती। भगत खुद को सुरक्षित और सुखी महसूस करता और सर्दी भर बेफिक्र पैर फैलाकर सोता। बदले में वह पशुओं का कोठार साफ कर देता। उन्हें चारा दाना डाल देता और बाकी समय मोहल्ले के लड़कों के साथ गुल्ली-डंडा खेलता। इसी तरह खेलते खाते भगत ने सत्रह की उम्र पार कर ली।

शरीर का विकास खूब हुआ पर बुद्धि का अधिक न हो पाया। इसी से गृहस्थी भी न बस पाई। पर भगत को इसका कोई मलाल नहीं था। जब वह किसी

को अपनी घरवाली से झगड़ते या जवान बेटों द्वारा बूढ़ों की अवहेलना होते देखता तो खुद को बहुत सुखी महसूस करता। उसका परिवार तो गाँव भर के जानवर थे। उसका बचपन उन्हीं के साथ बीता था। किसी जानवर के बीमार होने पर वह बिना उसके मालिक के बुलाये वहाँ पहुँच जाता और दिन-रात बीमार जानवर की सेवा करता। उसके घावों को नीम के पत्ते उबाल-उबाल कर धोता और जानवर के ठीक हो जाने पर भगत को उसके मालिक से अधिक सुख मिलता। भगत कोई नियमित पूजा-पाठ नहीं करता था। पर किसी पशु के प्राण अटके हों और उसके ठीक होने की सारी उम्मीद निबट गई हो तो भगत उसकी मुक्ति के लिए एकादशी व्रत रखता था। वह भी निर्जल।

भगत जिसकी रोटी खाता और जिससे कपड़ा पा जाता पूरी छमाही उसके खेत में मुफ्त में दिन-रात जी तोड़ मेहनत करता। उसकी दिन भर की पगार बस दो जून की रोटी और एक बीड़ी का बंडल था। इसीलिये हर कोई चाहता था कि भगत उसके यहाँ खाये। भगत को खिलाने और रखने वालों में होड़ लगी रहती थी। पर भगत उस घर जाता, जहाँ सबसे अधिक विपदा हो। घर का मालिक बीमार होने से समय पर जुताई-बुआई न हो पा रही हो, पशु मर जाने से मुश्किल आई हो या किसी रिश्तेदारी में विपदा होने से परिवार गाँव से बाहर गया हो और खेत सूख रहे हों। ऐसे परिवारों में रूखा-सूखा खाने और मेहनत करने में भगत को आनंद मिलता। बहुत बार तो माता-पिता आठ दस बरस के लड़कों को भगत के भरोसे छोड़कर हफ्तों चले जाते थे। ऐसे समय पर भगत घर और बच्चों का रखवाला बन जाता। तब उस घर से कोई सुई भी नहीं उठा सकता था। भगत खूब मीठा भजन गाता था। शिवरात्रि और जन्माष्टमी पर वह ढोलक बजाता और रात-रात भर भोले और कृष्ण के गीत गाता। शादी-ब्याह के मौके पर भी वह दौड़-दौड़कर काम करता और गीत सुनाता।

भगत ने पूर्ण स्वस्थ पचहत्तर वर्ष की जिन्दगी जी। वह मरा तो पूरे गाँव में चूल्हा न जला और पूरे ठाठ से उसका जनाजा निकला। भगत के सोलह संस्कारों में बस अंत्येष्टि ही हुआ वह भी मंत्रोच्चार के साथ। भगत सबका था। भगत के सब थे।

टक्कर

राधे बाबू ने जैसे ही गाड़ी मुख्य सड़क से बाएँ मोड़ी एक वृद्ध उससे टकराकर लुढ़क गया। वे चिल्लाये—"न जाने कहाँ से चले आते हैं देहाती टकराने।" वृद्ध सड़क के बीच में गिरा था इसीलिये गाड़ी रोककर उसे हटाना जरूरी हो गया था। किनारे होता तो वे बचकर निकल जाते। राधे बाबू गाड़ी से उतरे। उन्होंने वृद्ध को खड़ा करने की कोशिश की। उसके पैर में चोट लगी थी। खून बह रहा था। राधे बाबू ने सहारा देकर उसे सड़क किनारे बैठा दिया। उन्होंने बूढ़े को ध्यान से देखा और बोले—"अरे तुम हो कौन? कल भी मेरी गाड़ी से भिड़ने को थे और आज सामने ही आ गए। तुम्हें टकराने को मेरी ही गाड़ी मिल रही है?" वृद्ध बोला—"भैया तुम मुझे पहचान रहे हो। पर मैं तो यहाँ किसी को भी नहीं पहचान रहा हूँ। इस एक महीने में कितनी जगह गिरा हूँ, कितनी ठोंकरें खाई हैं, किस-किस से टकराया हूँ, मुझे कुछ भी याद नहीं है। बड़ी शान से बेटे को ढूँढ़ने निकला था। अब खुद ही खो गया हूँ। घर लौट जाने को न पैसा है न हिम्मत। किससे मदद माँगू?" राधे बाबू थोड़ी ऊँची आवाज में बोले—"ये महानगर है बाबा। यहाँ सबको बहुत काम है। किसी को किसी की मदद की फुर्सत नहीं है यहाँ। यह तुम्हारा देहात नहीं है जो कोई तुम्हारा हाथ पकड़े घूमता रहेगा।"

बूढ़े के मन में कुछ उम्मीद जगी। वह बोला—"यहाँ काम अधिक है तो लोग पैसा भी खूब कमाते होंगे।" राधे बाबू बोले—"क्यों नहीं। देखते नहीं हो, ये बड़ी-बड़ी इमारतें। सब पैसे वालों की तो है।" बूढ़ा हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाया—"भैया फिर तो यहाँ खूब धर्मशालाऐं होंगी। सेठ तो धर्मशालाऐं और धर्मार्थ अस्पताल बनवाते ही हैं। तुम यहाँ के रहने वाले हो। तुम ऐसी जगह को जरूर जानते होगे। मुझे वहाँ तक पहुँचा दो। एक मजबूर की मदद

कर दो भैया। मैं कुछ दिन वही गुजार लूँगा। ठीक हो जाऊँगा तो घर लौट जाऊँगा।”

राधे बाबू गम्भीर हो गए। उन्होंने एक बार बूढ़े की ओर ध्यान से देखा। जो अभी तक उनकी घृणा का पात्र था उसके लिए अब उनके मन में कुछ संवेदना उमड़ने लगी थी। फिर उन्होंने सोचने की कोशिश की—क्या शहर में कोई ऐसी जगह है जहाँ धर्म के नाम पर गरीब को महीना-पन्द्रह दिन का आश्रय मिल सके? क्या कोई धर्मार्थ औषधालय है। नाम के तो कई है पर वहाँ भी तो मरीज को सौ-दो सौ हर दिन खर्च करने पड़ते हैं। कहाँ ले जाय इस मजबूर को? एक बार मन में आया कि बेटे की डिस्पैंसरी तक ही पहुँचा दें। पर सुबह-सुबह मुफ्त का मरीज वहाँ लेकर जाने की उनकी हिम्मत न हुई। बूढ़ा दर्द से कराह रहा था।

राधे बाबू ने फिर एक बार गौर से उसे देखा। इस बार उन्हें उसमें उस बूढ़े किसान की मजबूर शक्ल नजर आई जिसने अपना खून-पसीना एक कर उन्हें पाला और पढ़ाया था और उसकी उम्मीदों के विपरीत वे शहर में आ बसे थे। अच्छी नौकरी लग जाने पर उन्हे देहाती वातावरण से घृणा होने लगी थी। यहाँ उन्होंने सब कुछ पाया—पैसा, शोहरत और काबिल बच्चे। इस सब में ध र्मार्थ उनके लिये एक शब्द मात्र रह गया। उसका व्यवहारिक रूप वे भूल चुके थे। बूढ़ा दर्द से फिर कराह उठा—“क्या सोच रहे हैं भैया?”

राधे बाबू को अपना बचपन कुछ ही मिनट में आँखों के सामने घूम गया। उन्हें सामने अपने गाँव के वैद्यजी खड़े नजर आये और वह दिन भी जब वे अपने पिता की उँगली पकड़े उनके घर जाते थे। वैद्यजी उनकी नब्ज देखते, पेट टटोलते, आँखें और जीभ देखते। फिर खरल में घोट कर दवाई बनाते, पुड़िया बाँधते और पिता के हाथ में थमा देते। राधे बाबू के पिता गरीब किसान, वैद्यजी को कुछ देने के लिये जेब में हाथ डालते पर जेब खाली होती। वैद्यजी समझ जाते। वे उनके पिता के कंधे पर हाथ रखते और कहते—“अरे भैया, क्यों परेशान होते हो? इसका कुछ अधिक थोड़े ही बनता है। जाओ बच्चे को दवा दो। आराम कराओ।” राधे बाबू के पिता घर आकर कहते—“बेटा तुम वैद्यजी को कभी मत भूलना। यदि ये हमारी मदद न करें तो हम सड़-सड़ कर मर जाय।” राधे बाबू ने गौर से बूढ़े की ओर देखा—उनका मन हुआ इसे घर ले चलें। पर फैशनेबल और अपने ही में मस्त बीवी का

चेहरा याद आते ही यह विचार पल भर में तिरोहित हो गया। उन्होंने जेब से बटुआ निकाला। उसमें हजार और पाँच सौ के नोटों की मोटी तह थी। जिसे उन्होंने आहिस्ता से पलटा। उसी में उन्हें एक सौ का नोट मिल गया। जिसे निकाल कर उन्होंने बूढ़े के हाथ में थमा दिया और सामने मेडिकल स्टोर की ओर इशारा करते हुये बोले—"वहाँ से मरहम-पट्टी खरीद लेना। बाकी का कुछ खा-पी लेना।" राधे बाबू तेजी से गाड़ी की ओर मुड़ गए। पलट कर बूढ़े को देखने का साहस अब उनमें नहीं था। बूढ़ा हाथ में नोट दबाये अपलक दूर जाती कार को देर तक देखता रहा।

भगवती

तेज धमाकों और भगवती की चीख ने सभी को चौंका दिया। भगवती सुबह से अनाज धूप में सुखाने और कोठार की सफाई में लगी थी। सब उस ओर दौड़े। वहाँ का नजारा देखकर दंग रह गये। कोठार में जलाई गई नीम की पत्तियों के धुयें के तेज गुब्बार ने खिड़की को उड़ा दिया था और उसी के साथ उठी तेज लपटों ने भगवती का ऊपरी आधा शरीर झुलसा दिया था। खिड़की दो टुकड़े होकर दूर पड़ी थी और भगवती कराह रही थी।

एक बुजुर्ग महिला ने नारियल का तेल लाने का हुक्म दिया तो बहू दौड़ी। वह तेल लेकर लौटती कि उससे पहले ही भगवती को न जाने क्या सूझी वह उठकर तेजी से नदी की ओर दौड़ी। सब पुकारते हुये उसके पीछे दौड़े। दादी डाँटते हुये भगवती को लौट आने के लिये कह रही थी पर भगवती ने किसी की एक न सुनी और दौड़कर सीधे नदी में डुबकी लगा दी। दो महिलाओं ने भगवती को पानी से बाहर खींचना चाहा। किन्तु भगवती ने उन्हें डाँटकर भगा दिया। वह नदी में इधर-उधर सरकते हुये अपने शरीर को बराबर ठण्डा कर रही थी। बीच-बीच में किनारे खड़ी स्त्रियों को अपने-अपने घरों को लौट जाने और अपना काम-धाम करने को कह रही थी। पर वे वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। शीघ्र ही खबर खेत-खलिहानों तक जा पहुँची और वहाँ से लौट रहे औरत, मर्द भी नदी किनारे इकट्ठा होने लगे। दिन ढलते तक गाँव के अधिकांश लोग नदी किनारे पहुँच गए। सब तरह-तरह की बातें कह रहे थे। कोई कहता—"अब न बचेगी।" कोई कहता—"बच भी गई तो घावों में सड़न हो जायगी।" अगले ने बोला—"कहीं जले पर पानी डाला जाता है भला? भगवती ने बड़ी नादानी कर दी।" भगवती वैसे ही ऊँचा सुनती थी और इस समय तो उसने सबकी बातों को और अनसुना कर दिया। उसकी चुप्पी को सब गम्भीरता से ले रहे थे। घर की महिलाऐं और बच्चे

सिसकने लगे। भगवती गर्दन तक पानी में डूबी थी। वह दो-चार मिनट बाहर गहरी साँस लेकर लम्बी डुबकी लगा लेती। एक बुजुर्ग ने रात्रि में किसी अशुभ की आशंका से घर के कामों से निबट लेने और खा-पी लेने की सलाह दी तो अधिकतर लोग घरों को लौट गए। चार-पाँच नौजवान पानी में उतरकर बर्छे लेकर भगवती का पहरा देने लगे। भगवती के लिये खाना आया उसने खाने से इन्कार कर दिया। लगभग एक पहर रात बीतने पर भगवती नदी से निकल कर, धीरे-धीरे अपने घर की ओर बढ़ने लगी। बेटे ने बूझा—"माँ कैसी है?" "बिलकुल ठीक।" "आ कंधे पर बैठ, ले चलूँ।" पोते ने आगे बढ़कर कहा। भगवती ने जोर का ठहाका लगाया। बोली—"मुझे हुआ क्या है? सब उसके पीछे चलने लगे। घर पहुचँकर भगवती ने कपड़े बदले, खाना खाया और लेट गई। तभी पास के गाँव से भगवती का भाई आ गया। उसको किसी ने खबर दी थी कि भगवती बुरी तरह जल गई है और कुछ ही घंटों की मेहमान है। भगवती को लेटा और सबको उसके पास बैठा देख वह दहाड़ मारकर रोने लगा। भगवती सकपका कर उठ बैठी। रामदीन अपनी पोटली फेंककर यह कहते हुऐ उसकी ओर दौड़ा—"बच गई भगवती। बच गई भगवती......।" सब जोर से हँसने लगे। अगले दिन भगवती पूर्ण स्वस्थ दिखने लगी। जले का असर उस पर इतना ही हुआ कि उसका गेहुँवा रंग गहरा काला हो गया।

भगवती को अपनी काली नदी से बहुत लगाव था। वह गर्मी के दिनों में घंटों उसमें नहाती और तैरती। जो भी मेहमान आता उसको भी नहलाने ले जाती। वह कहती अपनी तो यही गंगा मैया है। भगवती की काली नदी पहाड़ी थी उसका पानी एकदम साफ था। नदी के किनारे मीलों दूर तक खरबूजे, तरबूजे और सब्जी की खेती होती थी। सब जी भर खाते थे। भगवती थी गुस्सैल, पर ममतामयी। प्राकृतिक चिकित्सा के बारे में और पुराणों की कहानियाँ उसने बचपन में अपने पिता से सुनी थीं। वह हर दिन उनका व्यावहारिक प्रयोग करती थी। एक बार सरपंच और उसके पड़ौसियों ने अपनी नाली का रूख नदी की ओर कर दिया तो भगवती ने कोहराम मचा दिया। उसने पूरे गाँव में घूम-घूम कर लोगों को सरपंच की करतूतों के खिलाफ बोलने को उकसाया और नाली का रूख मैदान की तरफ मुड़वाकर ही दम लिया। भगवती अस्सी साल की होकर मरी। उसे उसकी गंगा मैया के किनारे ही फूँक कर राख नदी में बहा दी गई। भगवती अपनी गंगा मैया की शीतल धार में शीतलता पाने को हमेशा-हमेशा के लिये समा गई।

आख़िर कब तक

सरिता उस समय मात्र छः वर्ष की थी। दादा के बड़े अहाते में उछलने-कूदने, पेड़ों पर चढ़ने, फल सब्जियाँ तोड़कर खाने की उसे पूरी आजादी थी। उसके उत्पातों में उसकी मोहल्ले भर की सखियाँ हर दिन शामिल रहतीं। एक दिन खेल पूरा न होने से सरिता नूरी के घर खेलने चली गई। नूरी का घर उसके अहाते से पाँच घर दूर था। ताई कुछ काम से बाहर आई और लड़की को अहाते में न पाकर घबरा गई। चार पाँच जोरदार आवाजें लगाई पर कोई जवाब नहीं। सरिता एक घंटा बाद लौटी। सरिता के घर में आते ही दादाजी ने गोली की तरह सवालों की बौछार उस पर कर दी, ''कहाँ गई थी? इतनी देर क्यों लगी? घर से बाहर क्यों गई थी? बताकर क्यों नहीं गई थी?'' सरिता तीर की भाँति घर में घुसी और सीधे ताई की गोद में सिमट गई। उनकी लाड़ली जो थी। मगर आज ताई का मिजाज भी गरम था। उन्होंने उसे गोद से उतारकर सामने खड़ा किया और लगभग दादाजी वाले सवाल दोहरा दिये। बिना संकोच सरिता ने जवाब दिया, ''सब लड़कियाँ खेल पूरा करने से पहले जाने लगीं तो मैं नूरी के घर खेलने चली गई।''

''नूरी के घर?''

ताई का मुँह खुला का खुला रह गया। जरा सम्भल कर उन्होंने कड़क आवाज में बूझा, ''कहाँ खेल रही थी उसके घर में?''

''आँगन में।''

''कौन-कौन था घर में?''

''नूरी का भाई, चाचा और दादी।''

ताई ने सरिता को अपने पास खींच लिया और स्नेह से सिर पर हाथ रखते हुए बोली, ''सच बता उसके भाई और चाचा ने तेरे से कोई बात तो नहीं की थी?''

"की थी। बहुत सारी बात। चाचा बार-बार बुलाकर अपने पास बिठाता था इसलिए मैं भाग आई।" ताई का चेहरा लाल हो उठा और एक जोरदार तमाचा सरिता के गाल पर पड़ा। जिसकी गर्मी उसे आज तक याद है। ताई ने हिदायत दी "आज के बाद बगैर बताये कभी घर से बाहर गई तो बहुत मार खायेगी और नूरी के घर में जिन्दगी में भी कदम नहीं रखना है। समझ गई न।"

ताई क्रोध से काँप रही थी। सदा सरिता को स्नेह से अंक में भर लेने वाली ताई का यह रूप परिवर्तन क्यों हुआ? सरिता की नन्हीं बुद्धि में कोई जवाब न आया। उसी समय ताई ने दादा से घटना का बयान किया। दादा भी क्रोध से भरे थे उन्होंने नूरी के पिता को बुलवाया और कुछ इस तरह के शब्दों और वाक्यों में उन्हें समझाया जो सरिता के लिये अनजान थे। वह तो दरवाजे के पीछे छुपकर मात्र उन्हें सुन रही थी।

इस घटना को पूरे तीस बरस बीत गये हैं। पर सरिता के जेहन में तमतमाये चेहरे, शंकित हृदय और नूरी के भाई और चाचा की शक्लें आज भी ताजा हैं। कई दिनों बाद नूरी ने जो सरिता से उम्र में चार बरस बड़ी थी सरिता को उसके दादा और ताई के क्रोध की वजह समझाई थी—"अब तू मेरे भाई और चाचा के पास कभी मत जाना। उन्होंने तुझे छेड़ा था। अब्बू घर जाकर उन पर खूब बिगड़े।" उस समय सरिता को छेड़े जाने का अर्थ मालूम न था पर आज स्पष्ट है। हाँ वास्तव में वह छेड़ा जाना ही था। क्योंकि वे दोनों बारी-बारी से उसे अपने पास बुलाते और बिठाते हुए उसकी छाती और जाँघों को दबा देते थे। उस समय सरिता को मात्र गुदगुदी होती थी पर कई बरस बाद वह जान पाई कि यह छेड़ने का ही हिस्सा था जिसे ताई को बताने की सरिता ने उस समय आवश्यकता महसूस नहीं की थी। मगर ताई की अनुभवी आँखें शायद सबकुछ जान गई थीं।

महिला सहकर्मी से कार्यालय में अभद्रता विषयक फाइल पढ़ते हुए सरिता चौंक गई। उसे लगा ताई का चपत अभी उसके गाल पर पड़ा है। अचानक उसे याद आया कि उसकी बेटी घर पर अकेली है। सरिता ने ड्राइवर को बुलाने और फाइल घर भिजवाने का आदेश दे दिया।

समर्थ

पिछले चार दिनों से सुनीता ने जिद् पकड़ रखी थी कि उसे स्कूटी की जरूरत है। जब से उसकी सहेली रीता ने स्कूटी खरीदी, सुनीता को अपनी साईकिल बेकार लगने लगी। उसे लगने लगा कि यदि वह साईकिल से स्कूल आती-जाती रही तो पढ़ाई में पिछड़ जायगी। वह दिन में कई बार माँ को इसके लिये कहती और माँ हर बार एक ही जवाब देती—"बेटा पैसे की बात तुम्हारे पिताजी जाने। पैसा खर्च करने का फैसला वे ही ले सकते हैं, मैं नहीं।" सुनीता को इस जवाब पर क्रोध आता। वह यह न समझ पाती कि जब माँ भी घर में रात-दिन काम करती है, वह पिताजी से अधिक घंटे जागती है और अपनी मेहनत व समझदारी से महीने में काफी पैसा बचा लेती है तब पैसे के संबंध में वह कोई फैसला क्यों नहीं ले सकती। ऐसे मौकों पर सुनीता मन-ही-मन सोचती कि वह जीवन में खूब पैसा कमायेगी और उसे अपनी मर्जी से खर्च करेगी। वह माँ जैसी लाचार नहीं रहेगी। इस बात ने सुनीता को खूब मेहनत करने को प्रेरित किया। सुनीता ने केवल बाइस वर्ष की उम्र में एक कम्पनी में असिस्टैंट का पद हासिल कर लिया। वह अपनी मेहनत से खुश थी और बुझी-बुझी-सी रहने वाली उसकी माँ भी अब पहले से अधिक खुश नजर आती थी। बेटी की उपलब्धि ने उसके हौंसले को बढ़ा दिया था। सुनीता माँ के मना करने पर भी अपने और भाई-बहनों के लिये खूब पैसा खर्च करती। वह शादी होकर ससुराल गई तो वहाँ भी उसने कभी कंजूसी से काम न लिया। वह कहती—"पैसा कमाया है तो खर्च के लिये ही, बचा-बचाकर क्या करना है?"

सुनीता के पहले बच्चे का जन्म हुआ। उसके ससुराल और मायके में यह नई पीढ़ी का पहला बालक था। खूब धूम-धाम से खुशी मनाई गई। सुनीता ने सभी को खुश करने को खुलकर पैसा खर्च किया। उसके पति ने भी कभी कोई

रोक-टोक न की। कुछ ही दिनों में मुकुल घर के सदस्यों का ध्यान खींचने लगा। वह अपनी गोल-गोल आँखें घुमाकर देखता और खिलखिलाकर हँसता, मानो सब समझता हो। अपने नन्हें हाथों से परिवार के सदस्यों की उँगली पकड़ लेता, पालना झूलता और दिन भर सबके आकर्षण का केन्द्र बना रहता।

मुकुल की बुआ जब उसे मालिश कर नहला देती और वह गहरी नींद में सो जाता तो सुनीता उसे बहुत देर तक देखती रहती। उसकी शक्ल का मिलान कभी नाना तो कभी दादा परिवार के सदस्यों से करती। उसके हाथ-पैरों को अपने हाथ में लेकर अच्छी तरह जाँचती, परखती कहीं कोई विकार तो नहीं है। सब कुछ सही पाकर निश्चित हो जाती। इसी बीच यदि मुकुल हँस देता तो सुनीता के मन में भी गुदगुदी हो जाती। वह भी हँस पड़ती। मुकुल के देर तक सोने से वह बेचैन हो जाती और हौले से उसे जगाने का प्रयास करती। सुनीता उन दिनों की बातें याद करती जब उसके छोटे भाई प्रकाश का जन्म हुआ था। माँ किस तरह भाई को सुलाती-जगाती और दूध पिलाती थी। सुनीता मुकुल के लिये वह सब करने की कोशिश करती जो माँ प्रकाश के लिये किया करती थी। बीच-बीच में अपनी नन्द की बताई बातों पर ध्यान देती। मुकुल सोता तो वह बहुत धीरे बोलती और सबको चुप रहने का संकेत करती। पहले सुनीता ने कभी कोई लोरी न गाई थी पर मुकुल के जन्म ने उसमें लोरियों को भी जगा दिया। वह बचपन में सुनी लोरियों की दो-चार पंक्तियों को तन्मयता से गाती।

सुनीता अपने लाड़ले को पूर्ण स्नेह देना चाहती थी। अपने कारण मुकुल को कोई कमी उसे गवाँरा नहीं थी। सुनीता को लगता कि वह मुकुल की सबसे बड़ी संरक्षिका है। वह उसका जितना ख्याल रख सकती है उतना दुनियाँ में कोई दूसरा नहीं। शायद मुकुल के पापा भी नहीं। सुनीता को मुकुल हर दिन पहले से बड़ा और समझदार नजर आता। वह हर दिन नए सिरे से उसकी गतिविधियों का आँकलन करती। कुछ भी नया महसूस होने पर वह घर के सदस्यों से दिन में कई बार उसकी चर्चा करती। कभी मुकुल की बुआ कह देती—"बच्चे पर अधिक ध्यान देना ठीक नहीं, टोक होती है।" तब सुनीता स्वयं को अपराधिन महसूस करती और मन-ही-मन बच्चे की सलामती की प्रार्थना करती। उसे स्वयं कब क्या खाना है, क्या नहीं खाना है सुनीता यह सब मुकुल की जरूरत से तय करती। मुकुल दो माह का हुआ तो उसकी बुआ चली गई। अब सुनीता मुकुल का सारा काम स्वयं करती। अभी तक उसकी जिन गतिविधियों पर सुनीता का ध्यान न गया था अब

वह उनके विषय में भी जानने लगी और उसे मुकुल पर और प्यार आने लगा। धीरे-धीरे सुनीता का प्रसवावकाश खत्म हो रहा था। उसके ऑफिस जाने में चार दिन बाकी रहे तो वह मुकुल के लिये चिंतित होने लगी। सुनीता के ऑफिस के रास्ते में क्रैच था। उसने मुकुल को वहाँ छोड़ने की व्यवस्था कर ली। ऑफिस जाने के एक दिन पहले सुनीता का मन दुविधा में होने लगा। एक बार उसने सोचा छुट्टियाँ और बढ़ा ली जाय तो ठीक रहे। फिर उसे ख्याल आया कि मौसम अभी ठीक है और मुकुल भी। यदि कभी बच्चे की तबियत खराब होगी तो उसे छुट्टियाँ लेनी ही पड़ेगी। अच्छा हो अभी ऑफिस जाया जाय और छुट्टियों को आड़े वक्त के लिये बचा लिया जाय। ऑफिस जाने के एक दिन पहले सुनीता ने मुकुल को छोड़ने, घर का काम करने और अपने आने-जाने की सब तैयारियाँ पूरी कर ली। सुनीता का मन अभी भी अशांत था। वह बार-बार मुकुल को दुलारती। उस दिन सुनीता ने अपना पूरा समय मुकुल के साथ बिताया। वह अब सुनीता को पहचानने लगा था। उसकी आवाज पर वह गर्दन घुमाता, गोद में ले लिये जाने पर रोते से चुप हो जाता। सुनीता को इससे असीम आनंद मिलता। सुबह वह उसे छोड़कर जायगी यह सोचकर ही सुनीता उदास हो रही थी। कभी उसे बच्चे का मोह घर रूकने को ललचा रहा था और कभी एक जिम्मेदार अफसर के दायित्त्व ऑफिस जाने का उकसा रहे थे। इसी ऊहा-पोह में सुनीता सो गई। अगली सुबह वह और दिनों से ज़ल्दी उठ गई। पति की सहायता से उसने बच्चे की दूध, जूस और पानी की बोतलें तैयार की। अपना और पति का लंच तैयार किया तथा घर की सभी व्यवस्था ठीक कर वह समय से आधा घंटा पहले ही चल पड़ी।

सुनीता मुकुल को लेकर क्रैच पहुँची। वहाँ अलग-अलग उम्र के बच्चे मौजूद थे। आठ माह का एक बच्चा चीख मारकर रो रहा था। उससे बड़ी लड़की चिल्लाते हुये बाहर भाग रही थी। उनकी माँ उन्हें अभी छोड़कर गई थी। आया इन बच्चों को बहलाने का प्रयास कर रही थी। दूसरी आया ने आगे बढ़कर मुकुल को सुनीता की गोद से ले लिया। मुकुल कुछ मिनट बाद ही अनजाने हाथों के स्पर्श से चीख मारकर रोने लगा। सुनीता ने उसे अपनी गोद में ले लिया। सुनीता की परेशानी बढ़ती देख क्रैच की संचालिका ने स्वयं मुकुल को ले लिया और सुनीता को आश्वस्त किया कि वे चिंतित न हों। वह यहाँ आराम से रहेगा। आण्टी के अनुभवी हाथों में मुकुल शांति से सो गया। सुनीता ने आण्टी से कहा—उसके बच्चे की देखभाल वे स्वयं करें। इसके लिये वह अतिरिक्त पैसा भी देने के लिये तैयार है। उसके बच्चे को कोई कष्ट न हो। पूरी व्यवस्था से सन्तुष्ट होकर सुनीता

कार्यालय पहुँची। वह काफी दिनों के बाद यहाँ लौटी थी। अतः सभी के बारे में जानकारी प्राप्त करते, कार्यों का ब्यौरा लेते तथा सबसे मिलते व बात करते-करते ही आधा दिन बीत गया। सब मुकुल के बारे में जानना चाहते थे।

जैसे ही कोई मुकुल का जिक्र करता सुनीता का मन उड़कर मुकुल के पास पहुँच जाता। कभी हँसता-खेलता, कभी सोता और कभी रोता हुआ मुकुल का चेहरा सुनीता की आँखों में घूम जाता। मुकुल के रोने की बात सोचकर वह बेचैन हो जाती। एक-दो बार सुनीता के मन में आया कि अब घर लौट जाय और मुकुल को जी भर प्यार करे। पर मन को स्वयं ही दिलासा दे दी—अब आधा समय तो बीत ही गया है वह शाम को घंटाभर पहले चली जायगी और मुकुल से मिल लेगी। सुनीता को यह भी ख्याल आया कि पिछले वर्ष उसकी जूनियर शोभा की बिटिया हुई थी। उसने एक-दो बार इसी तरह बीच में घर चले जाने की बात कही थी तब सुनीता ने उसे कितने रूखे और कड़े शब्दों में ना कह दिया था—"घर की समस्याओं को घर ही छोड़कर कार्यालय आना चाहिये। इस तरह सभी घर जाने का बहाना ढूँढ़ लेंगे तो काम कैसे हो पायेगा?" और आज वह स्वयं यही व्यवहार करे तो यह उसकी कमजोरी को उजागर कर देगा। तब उसके लिये लोगों में कानाफूसी होंगी। वह स्वयं को कमजोर सिद्ध नहीं करना चाहती थी। वह अपने व्यवहार में वह शामिल नहीं होने देना चाहती थी जो वह अपने कर्मचारियों में नहीं देख सकती थी। परंतु इन सब तर्कों को मन में बार-बार दोहराते हुए भी दिन में तीन-चार बार सुनीता का मन बेहद उदास हो गया। उसे लगा कि वह शायद अभी रो पड़ेगी। कोई उसके दिल को कचोट कर बाहर निकाल देना चाहता है। ऐसे समय पर सुनीता ने दूसरों के साथ जोर-जोर से बातें करके या स्वयं को काम में उलझा कर अपनी भावनाओं को नियंत्रित कर लिया। फिर सन्तुष्ट हो गई कि वह अभी कमजोर नहीं है। दो बार उसने क्रैच में फोन कर आण्टी से मुकुल की जानकारी ली। सुनीता को यह जानकर सन्तोष हुआ कि मुकुल उसके बगैर भी सो रहा है या खेल रहा है।

शाम के चार बज चुके थे कार्यालय में कुछ लोग चाय पी रहें थे और कुछ धीमी आवाज में गप्पें मार रहे थे। मगर सुनीता तेजी से फाइलों को निबटा रही थी। अगले दिन का कार्य संबंधित लोगों को समझा रही थी। वह बस थोड़ी ही देर में घर जाना चाहती थी। उसकी अकुलाहट बढ़ रही थी। उसे लग रहा था कि मुकुल अपनी गर्दन घुमाकर उसे ढूँढ रहा है। उसकी आँखों में माँ की तलाश है।

वह माँ की गोद में आने को आकुल हो रहा है। सुनीता मुकुल को अपनी गोद में समेटकर जी भर प्यार करने को बेचैन हो रही थी। तभी उसके फोन की घंटी बजी। मैनेजर साहब बोल रहे थे—"हैलो! सुनीता जी।"

"जी सर।"

"आप जरा रूकी रहियेगा। मैं अभी पहुँचता हूँ। आप से कुछ जरूरी सलाह करनी है।"

सुनीता के मन में आया साफ ना कह दे और तुरंत अपने घर चली जाय। परंतु वह ऐसा न कह पाई। उसके मुँह से निकला—"ठीक है सर।"

ऑफिस के दूसरे लोग चलने की तैयारी करने लगे। मगर सुनीता यह जानते हुये भी कि उसका घर जल्दी पहुँचना इन सब से अधिक जरूरी है, चुपचाप बैठी मैनेजर का इंतजार करती रही। वे पाँच बजे आये। सुनीता को उनसे बातें करते छः बज गये। मीटिंग खत्म होते ही सुनीता घर के लिये चल दी। उसने ड्राइवर को गाड़ी तेज चलाने का आदेश दिया। ड्राइवर ने पैट्रोल के लिये गाड़ी रोकी तो वे दस मिनट बरबाद करना सुनीता को बुरा लगा, पर शांत रही। उसने क्रैच वाली आण्टी को फोन किया। उन्होंने बताया कि मुकुल थोड़ा परेशान है पर वह चिंता न करे। बस अब जल्दी आ जाएें। सुनीता को कुछ घरेलू सामान लेना था। पर उसने उसे कल के लिये छोड़ दिया। सुनीता ने ड्राइवर को छोटे रास्ते से गाड़ी निकाल लेने की सलाह दी। गौ-धूली का समय हो गया था। सभी घर लौट जाने की जल्दी में थे। असंख्य महिलाऐं टैम्पों, बसों व निजी वाहनों से जाती नजर आ रही थीं। सुनीता को लगा—इनमें कितनी ही माँ हैं। जो अपने बच्चों के पास लौट जाने की जल्दी में हैं। पर इनमें शायद ही कोई इतने नन्हें बच्चे को छोड़कर निकली हो, जितने को वह छोड़कर आई है। ड्राइवर ने मुख्य सड़क को छोड़ दिया। वह छोटे रास्ते पर चल रहा था। यह संकरा और भीड़ भरा था। वे अभी एक किलोमीटर ही आगे बढ़ पाये थे कि सड़क पर जाम लगने लगा। वाहन लगातार बढ़ रहे थे। रास्ता खुलने की उम्मीद कम नजर आ रही थी। ड्राइवर ने लौटकर मुख्य सड़क को पकड़ना चाहा। परंतु गाड़ी के पीछे भी वाहनों की लम्बी लाइन लग चुकी थी। रिक्शा, साईकिल, स्कूटर और पैदल चलने वालों की भीड़ बड़े वाहनों के वीच की खाली जगह को तेजी से भर रही थी। अब गाड़ी का न आगे खिसकना संभव था न पीछे हटना। हारकर ड्राइवर ने गाड़ी रोक दी। लोग अंदाज लगा रहे थे कि एक घंटे से पहले रास्ता खुलना संभव नहीं है। धीरे-धीरे अंधेरा घिर

रहा था। सुनीता की बेचैनी बढ़ रही थी। उसकी छाती में सरसराहट हो रही थी। बार-बार कंठ तक भर आई रूलाई को वह इधर-उधर देखकर रोकने की कोशिश कर रही थी। तभी उसकी नजर एक भिखारिन पर पड़ी। वह अपने छोटे-से बालक को अपने सीने से चिपकाये स्तनपान करा रही थी और भीख भी माँग रही थी। सुनीता के स्तनों से दूध बहकर उसके कपड़ों को गीला करने लगा और अश्रुधार कपोलों पर ढ़लक आई। इस समय सुनीता स्वयं को उस भिखारिन से गरीब और पैसा खर्चने का निर्णय न ले पाने वाली अपनी माँ से अधिक मजबूर महसूस कर रही थी। वह एकदम शांत एकटक उस भिखारिन को देखती रही।

बड़ी बहन

बड़ी बहन की शादी के समय माला माँ या बहन की गोद का अन्तर नहीं जानती थी। उसकी उम्र उस समय छः माह थी। बोलना और चलना सीखी तो बहन की गोद माँ की गोद से अधिक दुलारी हो गयी। ससुराल से आई चमक-दमक के कपड़ों, गहनों में सजी बहन माला को लुभा लेती थी। बहन भी उसे स्नेह से अंक में भर लेती और खूब प्यार करती। उसके लिये सुन्दर कपड़े और मिठाई लाती। दो-चार महीने जब तक भी बहन मायके ठहरती माला उसके पीछे घूमती रहती। जैसे-जैसे माला समझदार होने लगी उसे बहन के आने का अधिक इंतजार होने लगा। माला की समझ में बहन की ससुराल अथाह पैसे वाली थी जहाँ बहन खूब ठाठ से रहती थी और उसकी जरूरत की हर चीज साड़ी, कपड़ा, कंठी, झुमका बहन सब लाकर दे सकती थी। वह बहन की स्थिति की तुलना अपने देहात से करती। अपनी माँ की दुर्दशा को देखती कि किस तरह वो खेतों में कड़ी मेहनत करती है तब भी उसकी साड़ी चार जगह पैबंद लगी रहती है। उसके भाई दिनभर गोली खेलते हैं और दारू पिये बापू की मार खाकर भूखे ही सो जाते हैं। जब बहन आती तो सबकी खूब मौज रहती। वह भाई-बहनों के लिये कपड़े और खाने का सामान लाती। भाई बहन के आने की सूचना पूरी बस्ती में देते फिरते और ललचाई आँखों से अपनी ओर देख रहे बच्चों को चहक कर बताते कि यह सब बहन शहर से लाई है। यूँ ही समय बीतता गया और अभावों के बीच ख्वाबों को देखते हुये माला ने चौदह की उम्र पार कर ली। माँ को माला की शादी की चिंता सताने लगी। माँ ने अपनी बड़ी बेटी से जोर डालकर कहा कि वह माला के लिये अच्छा लड़का देखे। साथ ही शादी में रुपये-पैसे से मदद करने की भी तैयारी रखे। बापू की हालत किसी से छुपी नहीं थी। उसने दारू पी-पी कर अपने शरीर को खोखला कर लिया था। मेहनत-मजदूरी मिलना मुश्किल था। शाम होते ही उसकी

प्यास भड़क उठती थी। वह माँ से झगड़ता, पैसा माँगता, न मिलने पर मार-पिटाई करता और घर का कोई भी सामान उठाकर बेच आता। दारू मिल जाने पर वह बस्ती भर में हंगामा करता। बहुत बार मार खा जाता या थककर चूर हो जाता और सो जाता। ऐसे इन्सान से बेटी के ब्याह की सलाह कर पाना माँ के लिये मुमकिन नहीं था। अतः बड़ी बेटी से मदद लेने के अलावा माँ के पास और कोई रास्ता नहीं था।

शुरू में बहन ने इस समस्या पर विशेष ध्यान न दिया। पर हर बार ससुराल से आने पर वह माला के रूप को निखरा और देह को जवान होता देखती तो वह भी माँ की परेशानी समझने लगी। इस बार जाते-जाते उसने माँ से कहा था कि वह जल्दी ही माला के लिये कोई अच्छा लड़का देखेगी। वह दो-दो रुपये भाइयों और दस रुपये माला के हाथ में रख गई थी। माला देर तक उन्हें मुठ्ठी में दबाये रही आर फिर बापू के डर से रुपये माँ के हाथ में थमा दिये। माँ ने उन्हें कोठरी में हँडिया में छिपा दिया था।

तीज के दिन माला ने बहन का लाया कढ़ाई वाला सूट पहना। दो रुपये की चूड़ी अपने और दो की माँ के लिये खरीदी। बाकी पैसों की जलेबी खरीद लाई। उसकी तीज की तैयारी पूरी हो गई। पूरे दिन तीज मनाते और सहेलियों के साथ घूमते माला को बहन की याद आती रही। अगले ही रोज माँ के नाम बहन का पत्र आ गया। माँ ने उसे डाकिये से पढ़वाया। उसमें माला की शादी के बारे में लिखा था वह कुछ दूर से सुन रही थी। एक माह बाद बहन का दूसरा पत्र आया जिसे माँ ने लालटेन की रोशनी में गोपी से पढ़वाया। माला उस समय पास में रोटियाँ सेंक रही थी। गोपी की आवाज उसे साफ सुनाई दे रही थी। चिट्ठी में लिखा था—"माँ अधिक सोच-विचार न करो। भोलू अच्छा लड़का है। आजकल रिक्शा से चालीस-पचास रुपये रोज़ कमा लेता है। माला को कोई कमी न रहेगी। फिर उसकी देखभाल के लिये हम भी हैं। चाहो तो अगले लगन में ब्याह हो जायगा। अधिक खर्च भी नहीं करना होगा। मैं सब सम्भाल लूँगी।" माँ ने बापू की सहमति लेनी चाही तो उसने नशे में ही अपना फैसला सुना दिया—"तू ही जाने अपनी औलाद को कौन-सी बादशाहत पर बैठायगी। मेरे पास तो खर्च के लिये कुछ भी नहीं है।" आठ दिन बाद माँ ने अकेले ही फैसला ले लिया और अपनी सहमति की चिट्ठी बेटी को लिखवा दी। माँ बहुत हल्का महसूस कर रही थी,—बेटी ने एक बड़े बोझ से उसे मुक्ति दिला दी थी।

भोलू माला की बहन शीला का देवर है। एक बार जब वह शीला के साथ

गाँव आया था तब माला सात साल की थी। माला को खूब याद है वह उससे एक बालिस्त लम्बा था और बात-बात पर शहरी अदब, कायदों का रौब जमाता रहता था। माला को यह खराब लगता था। उसकी भोलू से इसी सबके लिये कई तकरार भी हुई। वह गुस्से में भोलू के कपड़ों पर कीचड़ डाल देती थी या उसकी दाल में एक चम्मच नमक और। पर भोलू के जाने के समय तक दोनों में सुलह हो गई थी। भोलू ने उसे कहा था—"कभी हमारे शहर आकर देखना। जीने का क्या ढंग होता है।" माला ने भी न्यौता स्वीकार लिया था। बोली—"हाँ, हाँ, एक बार जरूर आयेंगे तुम्हारे शहरी सलीके को देखने।" आज इतने वर्षों बाद उसका ब्याह भोलू से तय हो रहा है। माला को गुदगुदी-सी होने लगी। वह उसी भोलू की घरवाली बनकर शहर जायगी। भोलू कमाता है फिर वह भी बहन की तरह बन ठनकर रहेगी। रिक्शा तो उसका अपना होगा जब जी चाहा घूमने निकल गई। पन्द्रह का साल पूरा होते ही माला का भोलू से ब्याह हो गया। बारात लौट गई। दो साल बाद गौने की तारीख तय हुई। माला भोलू से बात तो न कर पाई पर दूसरों से बात करते उसने भोलू की आवाज सुनी थी और बारात चढ़ते समय भोलू को खिड़की से झाँक कर देखा था। अब वह पूरा जवान दिख रहा था। दो साल काटने के लिये माला को इतनी यादों का सहारा काफी था।

दो साल तक माँ ने माला के दहेज की साड़ियों, कपड़ों और बर्तन का इंतजाम किया। उसने चाँदी की झुमकी, हँसली, कड़े और पायजेब भी बनवाई। पर सब बापू से छिपकर। मौसी जब भी घर आती माँ हाँडी में छुपाकर रखे रुपये उसे थमा देती और मौसी उसमें और रुपये बढ़ाकर माला का गहना बनवा देती।

दो साल बाद माँ ने माला का गौना दिया। मामा, मौसी और भी बहुत-से रिश्तेदार आये। भोलू और उसके रिश्तेदार भी तय तिथि को आ गये। दो दिन बाद माला सज धज कर ससुराल के लिये विदा हो गई।

अपनी पूरी खुशियों, नूर और उमंग भरे मन के साथ माला ने ससुराल में पहला कदम रखा। वह कितने वर्षों से बहन के ससुराल आने की जिद करती रही थी जो आज इस रूप में पूरी हुई। पर माला नहीं जानती थी कि यही शहर, यही घर जो उसकी बहन के लिये स्वर्ग से बढ़कर है उसके लिए आज नरक का द्वार खोल रहा है। माला के दो चार महीने आराम से कटे। बहन माला के खाने-पीने का खूब ध्यान रखती। उसे अपने साथ हाट-बाजार घुमा लाती। कुछ रिश्तेदारों और कुछ साहब लोगों से माला को बहुत-से उपहार मिले। जब माला के जीजा घर आते

तो घर में रौनक और बढ़ जाती। खाने में अच्छा दाल-भात बनता। शाम की चाय के समय बिस्कुट, समोसा, जलेबी आदि का नाश्ता रहता। माला शहरी तौर-तरीकों को गौर से जाँचने परखने की कोशिश करती। शहरी चमक-दमक से उसकी आँखें चौंधियाने लगती। माला स्वयं को किस्मत वाली समझती। वह सोचती उसके साथ की लड़कियों को तो देहात की ससुरालें मिली हैं वे शहरी तौर-तरीके क्या जानें। पर इन सब सुखों के बीच एक दुःख माला को अन्दर तक चीर देता। भोलू पर अपनी बहन के अधिकार को वह समझ न पाती। बहन घर चलाती है, खर्च उठाती है और बड़ी हैं तो इस नाते भोलू का दिन भर की कमाई शाम को भाभी के हाथ में थमा देना तो ठीक है पर जैसे ही भोलू उसके करीब आने की कोशिश करता बहन किसी-न-किसी बहाने से उसे बुला लेती और माला से दूर किसी काम में लगा देती। रात में देर तक माला घर का काम समेटती रहती। बहन या तो पड़ौस में बातों में उलझी होती या आँगन में चारपाई बिछा कर लेट जाती। भोलू आता, खाना खाता और दोस्तों के साथ घूमने निकल जाता। माला काम से निबटकर भोलू का इंतजार करती। मगर भोलू के घर में कदम रखते ही बहन न जाने कैसे जान जाती। वह भोलू को आवाज लगाती। वह किसी पालतू जानवर-सा बहन के पास चला जाता और उसकी चारपाई के पास रखे स्टूल पर बैठकर उसके पैर दबाते हुये दिन भर के कामों का ब्यौरा देता जाता। यह सिलसिला लम्बा चलता। इस बीच दिन भर की थकी माला की कब आँख लग जाती वह जान ही न पाती। जब उसकी आँख खुलती तो आसमान में लाली फूटने लगती, पड़ौस में मुर्गा बोलने लगता और सड़क पर लोगों के आने-जाने का आभास होने लगता। माला उठकर हाथ-मुँह धोती और रात की बात को लगभग भूल कर अपने काम में जुट जाती।

बहन ने घर का सारा काम माला पर छोड़ दिया था। वह अब कोठियों पर ही काम करती थी। माला ने एक-दो बार चाहा कि वह रात में भोलू के आने से पहले बहन के पैर दबा दिया करे। पर बहन ने उसे अपने पैरों को छूने भी नहीं दिया। वह छोटी बहन से पैर छुवाने या दबवाने का पाप नहीं कर सकती थी। माला करीब चार महीने ससुराल रही। पर भोलू से खुलकर बात करने का एक भी मौका उसे न मिला। माला का दिल कचोटता जरूर था पर वह शीला के प्रति इतने आदर और विश्वास से भरी थी कि इस रिश्ते को निश्छल स्नेह से अलग कुछ सोचने की बात उसके मन में कभी आई ही नहीं।

मायके में रहते और दिन भर घर व बाहर कड़ी मेहनत करते हुये माला को

कभी-कभी भोलू की सूरत सामने आ जाती पर शीघ्र ही शीला की कड़क आवाज भी कानों में गूँजती। यूँ शीला ने माला से अभी तक न कोई अपशब्द कहा था और न ही उसके प्रति पूर्ववत् प्रेम में कोई कमी की थी। पर भोलू पर शीला के अनुशासन से ही माला कई बार अन्दर तक काँप जाती। माला माँ से ससुराल में मिले प्यार और सुख की ही बात कहती और सखियों को उसे सुखी समझने के लिये उसके अच्छे कपड़े, गहने और क्रीम-पाउडर के बड़े-बड़े डिब्बे काफी थे। ऐसे सुख में कोई दर्द भी छिपा हो सकता है यह सोचने की किसी के पास कोई गुँजाइश नहीं थी। कुछ माह बाद शीला गाँव आई और माला को शहर लिवा ले गई। चार-छः दिन बाद ही माला के प्रति शीला के व्यवहार में अजीब परिवर्तन होने लगा।

इस बार शीला ने माला के लिये दो घरों का काम भी तय कर दिया और घर का काम भी उसी पर छोड़ दिया। माला सुबह से रात तक काम में जुटी रहती। जरा देर होने पर भोलू उस पर हाथ छोड़ देता। शीला भी मौके-बेमौके घुड़क देती। उसने कब खाया नहीं खाया इसकी परवाह अब शीला नहीं करती थी। हाँ, माला के लिये एक कड़ा नियम था कि वो जब भी घर से बाहर जाये तो ठीक से ओढ़ पहन कर निकले वरना सब यही समझेंगे कि बड़ी बहन छोटी पर अत्याचार कर रही है। माला जब भी काम से फुर्सत पाती तो उसे गाँव, माँ और भाइयों की याद आती। वो राह देखती शायद कोई उसकी सुध लेने आ जाय। पर पूरा साल बीत गया इस बार न शीला ने उसे गाँव जाने को कहा और न माँ की कोई खबर आई। माला को जब भी समय मिलता वह भोलू से उसकी कठोरता का कारण जानने का प्रयास करती पर असफल रहती। भोलू या तो उसकी बात का जवाब देता ही नहीं था और यदि देता भी तो इतने रूखेपन से की माला आगे बात बढ़ाने का साहस न कर पाती। हाँ, इस बार माला को भोलू से मिलने को दो-तीन रातें जरूर मिली। एक रात जब बहन मौसेरे देवर की शादी में गई और एक रात जब बहन बड़े साहब की लड़की की शादी में पूरी रात उनके यहाँ रह गई थी। ऐसे ही एक-दो अवसर और भी। इन मुलाकातों ने माला के प्रति भोलू के व्यवहार को कुछ नम बना दिया और मौका पाकर वह कुछ रुपये भी उसके हाथ में थमाने लगा। पर शीला के घर में रहते भोलू का साहस अब भी इतना नहीं था कि वह माला की किसी बात को महत्त्व दे सके। बल्कि एक विचित्र बात थी कि शीला के कुछ कहने से पहले ही भोलू इस तरह की सफाई पेश करता कि जैसे उसने माला से कोई बात नहीं की है। माला सोचती आखिर ऐसा क्यों? मैं भोलू की ब्याहता हूँ फिर उससे बात करने में चोरी क्यों? इतना बँधन तो गाँव में भी नहीं है। यहाँ भी

पड़ौस मे सब अपने मर्दों से हँसती बोलती हैं। बहन खुद जीजा के आने पर कितना चहक-चहक कर बातें करती हैं। अपने हाथों से परोस कर खिलाती है फिर उसी पर इतना बँधन क्यों? आखिर शहर का यह कैसा रिवाज है? घर और बाहर के कानून एकदम अलग हैं। माला ये सब सवाल अपने से ही करती और किसी से उसने कभी कुछ न कहा। मन दुःखी होने पर वह एक-दो पड़ौसनों से बात कर लेती। कुछ घंटे काम पर निकल जाती।

माला का काम, स्वभाव और गोल-मटोल सा चेहरा सबकों अच्छा लगता। वह कोठियों पर काम करती तो घर के दुःख-क्लेष को बिलकुल भूल जाती। माला यूँ ही अपना समय बिता रही थी कि एक दिन जब वह थोड़ा जल्दी घर पहुँची तो उसने भोलू और शीला को ऐसी अवस्था में पाया जिसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। माला एकदम काठ हो गई और उसके मन में उठते सारे सवालों का जवाब उसे एक पल में मिल गया। वह अपने समस्त दुःखों का कारण जान गई। उस दिन वह देर रात तक रोती रही और भोलू दो दिन घर नहीं आया। माला ने साहस बटोर कर अपना हक माँगना शुरू किया। वह जब भी ऐसा महसूस करती तो बहन से तो अधिक कुछ न कहती पर भोलू से झगड़ती। भोलू उसे बुरी तरह पीटता। बस्ती के लोग इस झगड़े को आम घरेलू झगड़ा समझते और कभी-कभार आकर सुलह करा जाते। माला का दिल चाहता कि वो चीख-चीख कर बहन की करतूत सबको सुना दे, पर चुप रह जाती।

लम्बे समय के बाद माला मायके आई। माँ के गले लगकर खूब रोई। उसका दिल चाहा कि अपना सारा दुःख माँ की झोली में डाल दे। मगर लाख चाहकर भी बहन की करनी माँ से न कह पाई। माँ को अपनी बड़ी बेटी पर बड़ा भरोसा था और वह उसके एहसानों तले इतनी दबी थी कि उसके खिलाफ एक भी शब्द सुनने की कोई गुँजाइश उसमें नहीं थी। माला पूरे जाड़े माँ के पास रही। उसका व्यक्तित्व दो हिस्सों में बँट गया था। एक बाहरी रूप से हँसता, बतियाता, भाइयों और सखियों के साथ खेलता और दूसरा अन्दर-ही-अन्दर चीत्कार करता। जाड़ा बीत गया और माला का मायके से ससुराल जाने का समय आ गया। इस बार भोलू उसे लिवाने आया। माला माँ को कोई दुःख नहीं देना चाहती थी अतः न चाहते हुये भी भोलू के साथ ससुराल आ गई। पर निश्चय कर लिया कि इस बार अपने प्रति हो रहे अन्यथा का खुलकर विरोध करेगी। वह यह भी समझ गई थी कि बहन या भोलू से इस बारे में बात करना बेकार है। माला अपनी जरूरतों की

माँग करने लगी और उसके साथ कलह दिनों दिन बढ़ने लगी। माला अक्सर भूखी रह जाती। रात-रात भर जागती और रोती रहती। अब वह पड़ोस में भोलू और शीला के संबंधों की बात कहती। एकाएक कोई यकीन न करता। लोग थोड़ा संदेह जरूर करते पर विश्वास न करते। कुछ माला को समझाने की कोशिश करते। कुछ शीला के व्यवहार की निंदा करते। शीला के और भी कई मर्दों से संबंध उजागर होने लगे। महीने दो महीने में भोलू का भाई घर आता तो वह भी माला की दुर्दशा और शीला के बनाव श्रृंगार को देखता। घर के बाहर से भी उसे खबरें मिलती। अतः उसने शीला के विरोध करने पर भी भोलू और माला को अलग कर दिया।

माला शीला से अलग जरूर हुई पर भोलू को उसके चंगुल से छुड़ा न पाई। माला के सामने अपने बच्चों की परवरिश की समस्या थी। वह दो बच्चों की माँ बन गई थी। अपने बच्चों को उसे पिता का दुलार भी देना था। भोलू पहले जैसा ही लापरवाह बना रहा। वह रात-रात भर गायब रहता। दोपहर का खाना बाहर ही खा लेता। कोई-न-कोई माला तक खबर पहुँचा देता कि शीला भोलू के रिक्शे में घूम रही थी, दोनों ढ़ाबे में खा रहे थे या भोलू देर रात तक शीला की झोपड़ी में था। माला के खर्च माँगने पर भोलू उसे डपट देता, बच्चों को घूमा लाने की बात पर आग बबूला हो जाता। माला इस सबसे दुःखी तो बहुत होती पर सब सह जाती। भोलू के सुधर जाने की आस उसके मन में बराबर बनी रहती। कोठियों पर माला के प्रति हमदर्दी पनपने लगी। वहाँ से उसे कपड़ा, दवा आदि की सहायता मिल जाती। कभी दारू पीकर भोलू उत्पात करता तो साहब लोग उसे डपट देते।

तनेजा साहब की वदली होकर आई तो माला ने उनके घर का काम सम्भाल लिया। माला खूब मन लगाकर उनका काम करती। बीवीजी भी उसका खूब ख्याल रखती। वे माला को बगैर खिलाये कभी न भेजती। भोलू साहब का सामान ला देता और त्योहारों पर दस-बीस रुपये पा जाता। भोलू औरों के मुकाबले तनेजा साहब की इज्जत करता था। एक बार वे अपने घर गये तो भोलू को भी साथ ले गये। गाँव में उनका अच्छा करोबार था। जहाँ दो-चार नौकर हर दम बने रहते थे। भोलू ने लौटकर माला को बताया—"वहाँ जमीन खूब उपजाऊ है। नौकर अच्छा खाते-पीते हैं। तनेजा जी के परिवार के और लोग भी भले हैं।" दो साल में तनेजा जी रिटायर हो गए। माला ने सुना तो उदास हो गई। कई दिनों तक उसके मन में ऊहा-पोह चलती रही। जब साहब ने भोलू को सामान लदवाने के लिये बुलाया

और उसे अपने साथ चलने को कहा तो माला के मन में उमड़ती इच्छा ने मूर्त रूप लेना शुरू कर दिया। उसने बीवीजी का पैर पकड़ लिया और बच्ची-सी मचल गई खुद भी साथ चलने को। उन्होंने सवालिया नजर से माला को देखा और बोली—"भोलू तैयार होगा तुझे ले जाने को?"

माला बोली—"बस आप हाँ कर दें। बाकी मैं खुद सम्भाल लूँगी।"

माला की गीली आँखों से बीवीजी का दिल पसीज गया और उसे बीवीजी और साहब की अनुमति मिल गई। भोलू की अज्ञानता में वह अपने सामान की पोटलियाँ बाँध लाई और साहब के सामान में मिला दीं। जब ट्रक चलने लगा और भोलू नई कमीज पहनकर उसमें बैठ गया तो माला भी अपने दोंनों बच्चों के साथ ट्रक में बैठ गई। भोलू ने उसे खा जाने वाली नजरों से देखा, फिर साहब और बीवीजी की ओर देखा और चुप रह गया। ट्रक बस्ती से निकलकर मुख्य सड़क पर आ गया था। तभी शीला दौड़ती हुई वहाँ पहुँच गई। ट्रक ने रफ्तार पकड़ ली। शीला हाथ हिला-हिला कर चिल्लाती हुई कुछ कह रही थी।

वह भयावह छाया धीरे-धीरे धूमिल हो रही थी। माला का नरक उससे दूर हो रहा था और उसका भोलू उसके करीब आ रहा था। माला जीवन भर तनेजा बीवीजी का एहसान नहीं भूलेगी। तन-मन से उनकी सेवा करेगी। माला ने आहिस्ता से भोलू का हाथ थाम लिया और धीरे से कहा—"चलो हम नये सिरे से जिंदगी शुरू करें।" उसका असली गौना तो आज ही हुआ।

खो गया गाँव

प्रतापसिंह की सारी उम्र फौज की नौकरी में कट गई। सदा अपने इलाके से अलग-थलग पहाड़ों, सीमावर्ती क्षेत्रों या सुदूर दक्षिण में नियुक्तियाँ होती रही। इसी से अपनी भाषा, रीति-रिवाज और लोक संस्कृति से दूर होते चले गए। बीवी मिली वह भी गाँव देहात से परहेज करने वाली। बच्चे भी माँ के मिजाज के रहे। पूरे पारिवारिक माहौल और फौजी परिवेश के बीच प्रतापसिंह भी उसी रंग में रंगकर कर्नल प्रतापसिंह बनकर रह गए। गाँव का वह भोला-भाला प्रताप जिसे अपनी जमीन से माँ जैसा लगाव था, धूमिल होता चला गया।

कर्नल प्रतापसिंह ने अपने जीवन में कई लड़ाईयाँ लड़ी और ढेरों तमगे जीते। उनका निशाना अचूक था। नए भर्ती हुये रंग रूटों को उनकी बहादुरी और निशानेबाजी की मिसाल दी जाती थी। कर्नल प्रतापसिंह की कड़क आवाज पूरे परेड ग्राउंड में गूँजती थी। एक फौजी अफसर के रूप में उनका पूरा व्यक्तित्व ही अनुकरणीय था। प्रतापसिंह ने पूरी ईमानदारी से अपने पद भार को वहन किया और साथ ही भरे पूरे पारिवारिक जीवन का भी निर्वाह किया। वे दो बेटों और एक बेटी के पिता थे एवं अपने माता-पिता की तीसरी संतान थे। उनके अतिरिक्त उनके दो भाई और दो बहनें और थीं। उनके पिता रघुनाथ सिंह अपने समय के मिडिल पास थे। वे पटवारी थे। इसी से इलाके में उनका अच्छा सम्मान था। उनका शहर में कचहरी में आना-जाना लगा रहता था और पढ़े-लिखे जागरूक लोगों से सम्पर्क भी बना रहता था। प्रतापसिंह के चाचा राजबीर सिंह अधिक पढ़े न थे। वे खेती सम्भालते थे। उनका एक ही बेटा था विजय।

रघुनाथ सिंह ने आरंभ से ही प्रयास किया कि उनके बच्चे खूब पढ़े और ग्रामीण परिवेश से निकलकर बाहर की दुनियाँ देखें। यही भाव उनका अपने भतीजे विजय के लिए भी था। इसीलिए उन्होंने उस सहित घर के सब बच्चों को

पढ़ाई के जो भी साधन वे दे सकते थे दिए। बच्चों ने भी उन्हें निराश न किया बड़े भाई बी.ए. पास कर सरकारी दफ्तर में नौकरी पा गए। प्रतापसिंह और छोटा भाई फौज में भर्ती हो गए। तरक्की पाते-पाते दोनों अफसर के पद तक पहुँचे। विजय एक विद्यालय के प्रधानाचार्य हो गए। बहनों ने भी स्नातक डिग्रियाँ ली और शादी कराकर ससुराल चली गई। रघुनाथसिंह ने शहर में अपने और अपने भाई के लिए मकान बनवाए। उन्होंने सब बच्चों की शादियाँ शहर से ही की। गाँव से रिश्तेदार, बिरादरी और जान पहचान के लोग शामिल जरूर हुए पर ग्रामीण रस्मों रिवाज को शहरी जामा पहनाने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया। प्रतापसिंह के परिवार में शहरी और ग्रामीण परिवेश की खींचतान उनकी दस बारह वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ हो गई थी।

घर का जो भी बच्चा पाँचवीं पास कर लेता उसे पिताजी शहर में दाखिला दिला देते। उनका पूरा प्रयास रहता कि बच्चे अधिक समय शहर में ही रहे और यहीं के तौर-तरीके सीखें लेकिन बच्चों और घर की महिलाओं का प्रयास रहता कि मौका मिलते ही गाँव पहुँचा जाए और वहाँ खेत खलिहानों में घूमते, नदी में नहाते और संगी-साथियों के साथ मटरगस्ती करते अधिक समय बिताया जाए। इसीलिए छुट्टियाँ होते ही पिताजी के मना करने पर भी बच्चे गाँव भाग जाते। हाई स्कूल तक यही क्रम बना रहता, फिर नौकरी की फिक्र में लग जाते। जिस-जिस की नौकरी लगती गई उस उसका गाँव छूटता गया। प्रतापसिंह को अपने अन्तिम बार गाँव जाने की याद है। शादी कराकर वे पत्नी के साथ देव पूजा के लिए गए थे उसके दो साल पहले अपनी नौकरी लगने का प्रसाद बाँटने गए थे। पच्चीस की उम्र के बाद प्रतापसिंह ने गाँव का दर्शन न किया। बाकी भाई बहनों का भी गाँव से इसी तरह नाता टूटता चला गया। जब तक चाचा-चाची जिंदा थे अम्मा गाँव में रही। चाचा के मरने के बाद बड़े भाई ने गाँव को घर खेत बेचकर भाइयों का हिस्सा बाँट दिया। पिताजी चाचा से भी चार साल पहले ही चल बसे। बाद के दिनों में माँ और चाची शहर में आकर रहने लगी। दोनों साथ-साथ घूमती, मंदिर जाती और कभी-कभी लम्बी तीर्थ यात्राओं पर निकल जाती। दोनों में से किसी ने भी बच्चों के साथ जाना मँजूर न किया। दोनों घरों में किराएदार रहते थे उसी से उनकी गुजर हो जाती थी। वे बच्चों से कुछ न लेती बल्कि जरूरत पड़ने पर उनकी मदद कर देती। कुदरत ने भी दोनों का साथ निभाया। चाची घर संसार का मोह पहले छोड़ गई और उसके बिछोह में माँ भी छः महीने से अधिक न चल पाई। उसे यही गम सताता रहा—''हाय छोटी मुझसे पहले ही चली गई।'' छोटी का साथ देने

को वह भी जल्दी ही उससे जा मिली। कुछ दिनों बाद वे घर बेच दिए गए और भाइयों ने अपनी-अपनी सुविधानुसार मकान बना लिए।

प्रतापसिंह को रिटायर हुए पाँच साल बीत गए हैं। वे अपने बड़े बेटे के साथ रह रहे हैं। छोटे बेटे को दो वर्ष पहले ही शादी हुई है अभी उसकी कोई सन्तान नहीं है। इसी से प्रतापसिंह का उसके पास मन कम लगता है। यहाँ दो बच्चे हैं। उनके साथ हँसते-खेलते उनका समय कट जाता है। छुट्टियों में बेटी आ जाती है उसके भी एक बेटा-बेटी हैं। घर में जब चारों बच्चे इकट्ठे होते हैं तो प्रतापसिंह भी उनके साथ बच्चा बन जाते हैं तब घर बाहर हँसते-खेलते कब दिन कट जाता है पता ही नहीं चलता। उन दिनों प्रतापसिंह कभी भी जेब खाली नहीं रखते। दिन भर बच्चों की छोटी-छोटी माँगों को पूरा करने में उन्हें बहुत आनन्द आता है। उनके बड़े बेटे को बदली होकर यहाँ बुलन्दशहर आए अभी तीन माह ही हुए हैं पर अपना इलाका व अपनी बोली मिल जाने से प्रतापसिंह की मण्डली अच्छी जम गई है। चार-पाँच बुजुर्ग शाम को पार्क में इकट्ठे हो जाते हैं। घण्टों जिंदगी के गुजरे दिनों और बदले जमाने पर बातें होती हैं। कभी सहमति तो कभी असहमति के साथ बातें करते हुए नहर किनारे दूर तक घूमने निकल जाते हैं। अंधेरा घिरने पर अगले दिन मिलने का वायदा करके एक-दूसरे से विदा ले ली जाती है।

एक दिन मनोहर बदले खान-पान के तरीकों और खाना पकाने के ढंग को लेकर थोड़े दुःखी थे। कहने लगे—आजकल की बहू-बेटियाँ खाना बनाने में बिलकुल मन नहीं लगाती। इनकी बस चले तो दिनभर डिब्बा बंद खाना खिलाएँ।''

कन्हैया बोले—''अरे भैया, खाना पकाने में मन तो उसका लगे जिसने खाना पकाना सीखा हो। ढंग से दाल में छौंका तक नहीं लगता। पकवान की कौन कहे।''

रामचन्द्र कुछ अलग बोले—''भई हमारी तो अभी बुढ़िया जिंदाबाद है। रोज की दाल रोटी तो बहू भी ठीक बना लेती है। कभी पुए-पकवान का मन हुआ तो रमेश की माँ को कह दिया। वह चौका सम्भाल लेती है। उसके हाथ से बाल बच्चे सब खुश होकर खाते हैं। बहू को भी एक दिन आराम मिल जाता है।''

प्रतापसिंह का अपने घर में ऐसा कोई अनुभव न था। फौजी आदमी रहने से घर के बदले तौर तरीकों से कभी शिकवा न हुआ। प्रभु कृपा से बहू कौशल्या स्वभाव से ठीक थी। बहू बेटा समय पर उनकी खाने और आराम को व्यवस्था कर

देते थे। वे इतने ही से सन्तुष्ट थे। अतः उस चर्चा में वे अधिक भागीदारी न कर पाये। मगर जब लाला विनोद ने माँ के बनाए खाने का जिक्र किया—"अरे भैया खाना कोई कितना भी अच्छा बनाए पर माँ के हाथ के खाने का स्वाद जिंदगी में कहीं मिलता नहीं।" तो प्रतापसिंह को भी अपनी माँ की याद हो आई। वे वहाँ तो कुछ न बोले पर घर आते समय उन्हें तीन-चार बार गाँव की बरसात के वे दिन याद आए जब माँ चूल्हे पर बड़ी-सी कढ़ाई चढ़ाकर पकौड़े सेंकती थी और सब भाई बहन चूल्हे के पास इकट्ठा होकर छक कर खाते थे। सिकने भर को देर कि जरा देर में सब गायब। माँ अचार भी खूब डालती थी। साल भर तरह-तरह के अचार खाए जाते थे। माँ के हाथ की बात ही कुछ और थी। पिताजी कभी-कभी कहते थे—'माँ के परसे बिन और इन्दर के बरसे बिन पेट नहीं भरता।" यही सब सोचते प्रतापसिंह घर पहुँचे। आज बातों में उन्हें कुछ देर हो गई थी। बच्चे दरवाजे पर उनका इंतजार कर रहे थे। उनसे मिलते ही प्रतापसिंह विगत को भूल गए। सबने साथ खाना खाया और सोने चले गए।

कुछ दिन बाद प्रतापसिंह के दोस्तों में बदलते फैशन को लेकर चर्चा छिड़ गई। इस बार कन्हैया जी ने बात शुरू की। वे बुलंदशहर के पास के गाँव के रहने वाले थे। महीने दो महीने में गाँव घूम आते थे। उनके काफी कुटुम्बी भी अभी वहीं रह रहे थे। वे पोस्ट-मास्टर रहे थे, अधिक पढ़े न थे, गाँव कस्बों में नियुक्त रहे इसीलिए उन्हें ग्रामीण वेश-भूषा और पर्दा पसंद था। शहरी लिबास से थोड़ा चिढ़ते थे। कसी जीन्स और टॉप पहने पार्क में घूमती दो जवान लड़कियों को देखकर चुप न रह पाए। बोले—"भैया अब तो जमाना ऐसा है जो पर्दा पसंद करे खुद ही पर्दे में रहे। आजकल की बहू बेटियों से तो ढंग के कपड़े पहनने की उम्मीद रखना ही बेकार है।"

रामचन्द्र ने बात को और बढ़ा दिया—"अरे भाई कपड़े ही की बात हो तो भी भला। बाल, चाल, ढाल, बात-चीत का ढंग सब कुछ बदल गया है। लड़के लड़की का भेद ही करना मुश्किल है।"

मनोहर ने दो पीढ़ियों के बीच सामंजस्य बनाने के ख्याल से कहा—"भई बच्चों की खुशी में खुशी रहे तो ठीक है। अब जैसा पिक्चर, टी.वी. में देखेंगे वैसा ही सीखेंगे।"

आज चर्चा में शामिल होने का प्रतापसिंह का भी मन हुआ। फौजी अफसर होने के नाते वे आधुनिक वेश-भूषा और फैशन परस्ती के पक्षधर थे। बोले—"भाइयों

जब आप हम उम्मीद करते हैं कि हमारी लड़कियाँ लड़कों की तरह पढ़ाई और नौकरी करें तो उनसे यह कैसे कहा जा सकता है कि वे पर्दा किए सड़कों पर कॉलेज जाएँ। उन्हें कुछ तो छूट देनी ही पड़ेगी।''

बुजुर्ग मित्र मण्डली में अगले रोज चर्चा का विषय बदलती शिक्षा पद्धति था। रामचन्द्र ने बताया उनकी पोती कक्षा तीन में प्रथम स्थान पर रही है। वे अपनी बहू की मेहनत और बच्ची की होशियारी की तारीफ कर रहे थे। कन्हैया ने भी अपने-अपने घर के बच्चों के अच्छे नम्बर पाने के उदाहरण सुनाए। दोनों की बात सुनकर मनोहर बोले—''भैया बच्चे तो हमारे यहाँ भी अच्छे नम्बर पाते हैं। पर आजकल की पढ़ाई की बात हमें समझ में नहीं आती। जिसे देखा सौ में सौ, सौ में नब्बे नम्बर लिए चला आ रहा है। जरा-सा गणित बूझो तो गोल। सौ रुपए के सामान का हिसाब लगाना मुश्किल। जरा रामायण-महाभारत की बात बूझो तो उसका पता ही नहीं। एक चिट्ठी में दस गलती। पता नहीं भाई कैसी ये पढ़ाई है और कैसे ये नम्बर हैं?'' प्रतापसिंह से रहा न गया। बोले—''आपने यह बात तो एकदम सही कही है कि अब पहले जैसी पहले जैसी गणित और भाषा की पढ़ाई नहीं रही। लेकिन बच्चे आजकल और बहुत कुछ सीख रहे हैं। हम या हमारे बच्चे भी कम्प्यूटर, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और दुनिया जहान को इतनी सब बातें कहाँ जानते थे जितनी आजकल के बच्चे जानते हैं। अपने-अपने समय की बातें सबके लिए महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे जमाने में वे ही विषय महत्त्वपूर्ण थे आज ये हैं।'' प्रतापसिंह की बातों से सभी सहमत हुए। फिर मनोहर बोले भाइयों का रूखी-सूखी बातें ही करते रहोगे या जिनके बच्चे प्रथम आए हैं वे कुछ दावत का इंतजाम भी करेंगे। सबने उनकी हाँ में हाँ मिलाई। रामचन्द्र सबको हलवाई की दुकान पर ले गए और सबने गर्मा-गर्म गाज़र के हलुवे का आनंद लिया। विदा लेते समय कन्हैया बोले—''भाइयों हम चार पाँच रोज नहीं आएँगे। गाँव जाना है।'' मनोहर और रामचन्द्र बोले—''भाई हमारे लिए ताजा गुड़ जरूर ले आना।'' ''वाह भाई ये भी कोई कहने की बात है। जब गाँव जाएँगे तो गुड़-शक्कर तो वे लोग बिना कहे ही बाँध देंगे। खूब जी भरके खाना।'' हँसते-हँसते चारों दोस्त विदा हुए। अगले दिन मनोहर भी गंगा नहाने के लिए दोस्तों से दो दिन की छुट्टी ले गए। अब चार-पाँच रोज के लिए महफिल को सभी ने विदा कह दिया। प्रतापसिंह के लिए गाँव एक बिसरा सपना था और गंगा भक्ति भी बालपन से आगे न बढ़ पाई थी। वे रिश्तेदारी में घूमने निकल गए।

पूरे सात दिन के बाद प्रतापसिंह की मण्डली जुटी। गर्मजोशी से दुआ सलाम हुई। एक-दूसरे के हाल-चाल लिए गए। सब अपनी-अपनी यात्राओं के किस्से सुनाने की उतावले थे। सबसे पहले कन्हैया ने कहना शुरू किया—"भैया गाँव हो आए। अभी दो चार संगी साथी मौजूद हैं। इस बहाने उनसे मिल लेते हैं। जरा हवा पानी बदल गया तो मन भी बदल गया।"

मनोहर हँसे—"मन क्या बदल गया, ये कहो कि खूब डट के घी गुड़ खाया, दूध-मट्ठा पीया, सेहत बना के लौटे हो।"

कन्हैया बोले—"अरे भैया इन सबकी तो यहाँ भी कमी नहीं है। गाँव कौन-सा दूर है? आए दिन कोई न कोई आता ही रहता है। पर गाँव की आबो-हवा की बात ही कुछ और है। घर-घेर, खेत-बाड़ा घूम लिए तो तबियत खुश हो गई। रामचन्द्र ने उनकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा—"आबोहवा की बात तुमने बिलकुल सही कही भैया। यहाँ शहर में तो दो कमरों के घर में दिन भर घुटो।"

कन्हैया कुछ गम्भीर हो गए—"घर की भी छोड़ो भाई। घर बड़ा भी हो जाए तब भी गाँव जैसा मन यहाँ लगता नहीं। यहाँ किसी को किसी से बात करने की फुर्सत नहीं है। गाँव में जिधर निकल जाओ दुआ सलाम हो ही जाती है। चार-छः इकट्ठा बैठकर बात भी कर लेते हैं।"

मनोहर ने बात आगे बढ़ाई—"क्यों नहीं भाई। सावन फाग तो अभी भी गाए जाते हैं। चाहें जितना मन-मुटाव हो एक-दूसरे की खबर सुध तो लोग लेते ही है। यहाँ तो पड़ौसी को पड़ौसी की खबर ही नहीं।"

बीच-बीच में प्रतापसिंह को भी चर्चा में शामिल करने का प्रयास होता रहा। पर वे हाँ हूँ तक ही सीमित रहे। उनकी गाँव की यादें बहुत धुँधली हो चुकी थीं। कोई निकट संबंधी भी अब वहाँ नहीं था। इसी से कोई लगाव भी न रहा। आज घूमना नहीं हुआ। कन्हैया सबको अपने घर ले गए। पहले सबने ताजा गुड़ खाया फिर गर्मागर्म चाय पी गई। घर लौटते हुए प्रतापसिंह सोचते रहे। जमाना कितना आगे जा चुका है। इन्सान चाँद पर पहुँच गया है। वैश्वीकरण का युग है लोगों का अपने देश से जुड़े रहना ही संभव नहीं हो पा रहा है। ये हैं कि गाँव में ही अटके हैं। उन्होंने बच्चों के खाने के लिए थोड़ा सामान खरीदा और घर आ गए। रात्रि में जब वे लेटे तो बहुत देर तक नींद न आई। मन कभी लड़की और उसके बच्चों में भटक जाता, कभी ममेरे भाइयों का ख्याल आ जाता। वे इन सबसे अभी मिलकर लौटे है। घूम फिरकर उन्हें पार्क में हुई दोस्तों की बातें याद आने लगी। हाँ वो

ग्रामीण आबोहवा की क्या बात थी? हूँ बात तो कुछ सही है। उन्हें बचपन की खूब याद है जब खेतों में सरसों फूलती थी तो हवा में उसकी महक उड़ती थी। वर्षा के बाद खेतों में उठती माटी की सौंधी गंध कितना लुभाती थी और उनकी दादी तो उसी माटी से कितनी बिमारियों को ठीक कर लेती थी। गर्मी में नाक से छूटता खून का फब्बारा पानी में भीगी मिट्टी सूँघने से तुरंत ठीक हो जाता था। दादी कहती थी—''ये मिट्टी तो शरीर को मजबूत बनाती है। जो मिट्टी में न खेला उसका बचपन ही बेकार है।'' यही सब सोचते हुए प्रताप सिंह गहरी नींद में सो गए।

अगले दिन-पार्क की महफिल में फिर बचपन और ग्रामीण परिवेश की बात छिड़ गई। मनोहर ने प्रतापसिंह की ओर इशारा करते हुए कहा—''फौजी भाई आप भी कुछ अपने बचपन, गाँव, देहात की सुनाओ। गाँव तो आपका भी होगा।''

रामचन्द्र बोले—''हाँ भई हम सब गाँव देहात से ही हैं। किसी ने दो पीढ़ी पहले छोड़ दिया और किसी ने चार। अब हमारा तो गाँव में कुछ भी नहीं है। फिर भी कुटुम्ब-परिवार, यार-दोस्तों से कभी-कभार मिल आते हैं।''

प्रतापसिंह ने कहा—''हाँ भाई क्यों नहीं बचपन तो मेरा भी गाँव में बीता। पर अब तो एक जमाना गुजर गया वहाँ गए।''

मनोहर ने समझाया—''अरे भैया अब तो फुर्सत में हो। एक बार हिम्मत करके हो आओ। देखना कोई न कोई जान पहचान निकल ही आएगी। इस जिंदगी में अब है ही क्या? बस मिलना-जुलना ही है। क्या पता कब राम नाम सत हो जाए?''

प्रतापसिंह की मित्र मण्डली नित्य जमती। आपसी हँसी मजाक, सुख-दुःख की कहते सुनते समय गुजर जाता। जिस भी मुद्दे पर बात छिड़ जाती उसी के ढेरों किस्से निकल आते। बीच-बीच में प्रतापसिंह के फौजी किस्से चलते। वीरता की दास्तानें, भयावह जंगलों और खौफनाक घटनाओं का जिक्र सब खूब ध्यान लगाकर सुनते। ऐसे किस्से दूसरे मित्रों के पास न होते। परन्तु जब लोक-संस्कृति और ग्रामीण परिवेश का जिक्र होता तो प्रतापसिंह मौन रह जाते। यूँ तो बचपन के गाँव के कितने ही किस्से उन्हें भी याद थे पर जहाँ पिछले चालीस वर्ष से गए ही नहीं उसके विषय में कुछ बोल न पाते। बहुत बार मन में विगत घटनाओं को दोहराते पर कहने में सकुचाते। पता नहीं अब वहाँ ऐसा है भी या नहीं। फिर न जाने इन लोगों के और अपने गाँव के रिवाज एक से रहे भी है या नहीं। अब इतनी पुरानी घटनाओं की उन्हें याद भी है या नहीं, इसी सब में उलझ जाते। आरंभ में तो वे

ग्रामीण रूढ़ियों वाले किस्सों को नापसंद करते थे। सुनाने वालों को आधुनिकता की दुहाई देकर टोक भी देते थे। मगर धीरे-धीरे उन्हें इन किस्सों में आनंद आने लगा फिर भी सुनते ही अधिक थे, सुनाते बहुत कम।

ठंड बढ़ने लगी थी। दिसम्बर आधा बीत चुका था। सुबह शाम सड़कें कोहरे से भर जाती थी। बच्चों और बूढ़ों को सावधानी की सलाह दी जाने लगी थी अतः प्रतापसिंह की मित्र मण्डली शाम चार बजे ही जुड़ने लगी। प्रतापसिंह फौजी थे। उन्हें सर्दी से अधिक भय न था पर अन्य मित्रों की इच्छा से वे भी पार्क में जल्दी पहुँच जाते। कभी-कभी चार-छः दिन वे लोग इकट्ठे भी न हो पाते। इन दिनों प्रतापसिंह बच्चों से खूब बातें करते। उनके साथ खेलते, किस्से और कहानी सुनाते। उनके किस्सों में अब फौजी अनुभवों के साथ ग्रामीण किस्से भी शामिल होने लगे। ऐसे मौकों पर बच्चे कभी-कभी बूझ लिया करते—"दादाजी आपने गाँव देखा है?" तब प्रतापसिंह अपनी स्मृतियों को खँगालते और उन्हें जोड़-तोड़कर बच्चों को सुनाते। वे अपने गाँव की भौगोलिक स्थिति समझाते, रीति-रिवाज बताते और बुजुर्गों के विषय में बताते। बच्चे चाव से सुनते तो प्रतापसिंह याद कर-करके बचपन के खेलों और दोस्तों के विषय में बताते। ऐसे ही मौकों पर कभी-कभी उनकी इच्छा होती—क्यों न एक बार गाँव घूम लिया जाए। पर शीघ्र ही ख़्याल को मन से निकाल देते। वे बच्चों को अपने बचपन के विषय में बताते कि किस तरह वे कन्धे पर बस्ता और हाथ में तख्ती लिए दौड़ लगाते हुए स्कूल जाते थे। बच्चों को ये सब बातें काल्पनिक लगती। उन्हें विश्वास करना मुश्किल हो जाता कि बच्चे बगैर बस या रिक्शा के स्कूल जाते थे। तख्ती कैसी होती थी? बच्चे उस पर क्यों लिखते थे? कापी पर क्यों नहीं लिखते थे? बच्चे ऐसे ढेरों सवाल प्रतापसिंह से बूझा करते। प्रतापसिंह उदाहरण दे देकर उन्हें समझाते। ऐसे ही किस्से कहानियों के बीच चिल्ला जाड़ा बीत गया। मौसम सुहावना होने लगा और प्रतापसिंह की मित्र मण्डली फिर से जमने लगी। बीते जाड़े और बदले मौसम पर सब अपने अनुभव सुनाते। सर्दी के मेवों और खान-पान के तजुर्बे बताए जाते। बहुत-सी अंग्रेजी दवाओं और देसी नुस्खों का भी जिक्र होता। अंग्रेजी दवाओं की सबसे अधिक जानकारी प्रतापसिंह को थी। हाँ यह बात अलग थी कि वे उनका प्रयोग बहुत कम करते थे। वे दिनचर्या के माध्यम से ही खुद को स्वस्थ रखने में विश्वास करते थे। मनोहर और कन्हैया जड़ी-बूटियों और देहाती नुस्खों की अधिक वकालत करते। रामचन्द्र का होम्योपैथिक में विश्वास था। उनके ख़्याल से इससे सरल, सुरक्षित और सस्ती पैथी और कोई नहीं थी।

होली का त्यौहार करीब आया तो होली के पकवानों और होली के अलग-अलग देहाती रिवाजों को प्रतापसिंह के मित्रों ने अपने अनुभवों के साथ जोड़कर सुनाना शुरू कर दिया। उन बातों से प्रतापसिंह को भी बचपन में गाँव में मनाई होली के दिन याद आने लगे। उन्हें भूले हुए होली गीत याद आते और फौजी भाइयों के साथ मनाई होली याद आती। इधर काफी समय बाद उनकी यह मित्र मण्डली बनी है जिसमें वे ये सब बात कर लेते हैं। वरना बहुत सालों से तो वे अपने त्यौहार बच्चों के साथ ही मनाते रहे हैं। एक दिन कन्हैया बोले कि उन्होंने अभी तक अपनी होली गाँव में की है। इसीलिए कल चले जाएँगे और दस बारह दिन बाद लौटेंगे। विगत कई दिनों की चर्चा और आज कन्हैया के गाँव जाने की बात ने प्रतापसिंह के दिल में अपना गाँव देख आने की इच्छा को तीव्र कर दिया। उन्होंने घर आकर अपने एक सेवानिवृत्त फौजी मित्र सुरेश से सम्पर्क किया।

प्रतापसिंह के आगमन की बात सुनकर सुरेश उनसे मिलने को उत्सुक प्रतीत हुआ। इससे प्रताप सिंह का उत्साह और बढ़ गया। होली से पहले ही लौट आने के इरादे से वे अगली सुबह ही मेरठ के लिए रवाना हो गए। दोनों मित्र मिलकर प्रसन्न हुए। भोजन किया और फौज, देश, राजनीति व समाज पर दोनों ने दिनभर बातें की। शाम को घूमने निकले। बातों-बातों में प्रतापसिंह ने कचहरी के पास अपने पुराने घर की बात सुरेश को बताई। अगले दिन प्रतापसिंह अपना घर देखने गए। उनका मकान पड़ौसी रामबाबू ने ही खरीदा था अतः निःसंकोच वहाँ चले गये। रामबाबू के बेटे राकेश को प्रतापसिंह को पहचानने में थोड़ी देर लगी पर उसने उनका अच्छा स्वांगत किया। आग्रह के साथ भोजन भी कराया। प्रतापसिंह ने अपने गाँव का जिक्र किया तो राकेश ने बताया कि अब किशनपुर के लिए पक्की सड़क बन गई है। मुख्य सड़क से उन्हें वहाँ के लिए टैम्पो मिल जाएगा। रामपुरा के लिए खरंजा है वहाँ वे रिक्शे से जा सकते हैं। राकेश ने किशनपुर में रह रही अपनी मौसी का पता प्रतापसिंह को दिया ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे वहाँ जा सकें।

अगले दिन सुबह ही प्रतापसिंह अपने गाँव के लिए रवाना हो गए। उन्होंने गाजियाबाद जाने वाली बस पकड़ी और खिड़की के पास वाली सीट पर बैठ गए। प्रतापसिंह पैंट कमीज पहने थे और अपनी फौजी आदत के अनुसार सिर पर मध्यम आकार का हैट लगाए थे। उनके पास एक बैंत और एक चमड़े का बैग था। वे चुप रहकर सबकी बातें सुन रहे थे। लोगों की बात-चीत में अब उन्हें

अपने गाँव की हल्की-सी गंध आने लगी थी परन्तु पहनावे का उससे कोई मेल नजर नही आ रहा था। वे अपने बचपन और यौवन की स्मृतियों कों टटोल रहे थे, पर इन नौजवानों से वे मेल नहीं खा रही थीं। प्रतापसिंह खिड़की के बाहर देखने लगे। कुछ देर बाद उन्हें ख़्याल आया कि अच्छा हो यदि किशनपुर तक उन्हें कोई मिल जाए। वे कंडकटर की आवाज सुनने लगे। वह जोर-जोर से सवारियों को टिकट ले लेने को कह रहा था। किशनपुर का नाम आया तो प्रतापसिंह ने टिकट खरीदा। एक बुजुर्ग ने भी किशनपुर का टिकट खरीदा तो प्रतापसिंह को थोड़ी उम्मीद बनी चलो एक साथी तो मिला। नौ बजे दोनों बुजुर्ग किशनपुर मोड़ पर उतर गए। थोड़ा परिचय और दुआ सलाम तो पहले ही हो चुकी थी। अब दोनों को आगे की यात्रा साथ करनी थी। प्रतापसिंह ने बूझा "भैया किशनपुर का टैम्पू कहाँ से मिलेगा?" रामसेवक ने बताया—"भई, इसी मोड़ से मिलेगा। आओ बैठ लो।"

चाय-पान के खोखे के सामने पड़ी चारपाई पर दोनों बैठ गए। प्रतापसिंह ने समय काटने के ख़्याल से दो कप चाय बनवाई। दोनो बुजुर्ग चाय पीते हुए बातें करने लगे। रामसेवक ने प्रश्न किया—"कहाँ से आए हो भैया?"

"बुलंदशहर से।"

"कहाँ जाओगे?"

"किशनपुर।"

"कोई रिश्तेदारी है क्या?"

प्रतापसिंह चुप रहे।

रामसेवक ने फिर सवाल किया—"किशनपुर ही जाना है या आगे जाओगे?"

"रामपुरा जाना है। आप कहाँ जाओगे?"

"मड़वा।"

प्रतापसिंह को याद आया। जब वे अपने गाँव से किशनपुर पढ़ने आते थे तो बहुत से लड़के मड़वा के भी आते थे और पिताजी के तो वहाँ कई मित्र थे। उन्होंने बहुत कोशिश की मगर न तो उन्हें अपने साथियों के नाम याद आए न पिताजी के मित्रों के। बहुत विचारने पर उन्हें अपने गाँव के चाचा हरिहर का नाम याद आया। पड़ौस के नाते वे उन्हें चाचा कहते थे। उनके दो बेटे थे सेवक और जीतू। प्रतापसिंह को बात बढ़ाने का थोड़ा सहारा मिल गया। उन्होंने इस परिवार

के विषय में रामसेवक से जानकारी प्राप्त करनी चाही। परन्तु रामसेवक अभी दस साल पहले ही यहाँ आकर बसे थे। सो दूसरे गाँव तक उनका परिचय नहीं था। थोड़ी देर तक दोनों आसपास हुई तरक्की और लोगों के बदले तौर तरीकों पर बातें करते रहे। रामसेवक ने प्रतापसिंह को बताया—"अब तो गाँवों में बहुत कुछ बदल गया है। शहर की हर सुविधा यहाँ मौजूद है। घर-घर में टेलीविजन देख लो। फोन तो लोग हाथ में लिए घूम रहे हैं। बड़े-बड़े दुमंजले मकान बन गए हैं। कच्चे घर तो अब पूरे इलाके में भी ढूँढ़ने से न मिलें। आपके गाँव में ही अंग्रेजी स्कूल खुल गया है। आप पढ़ने किशनपुर आते थे अब बालक किशनपुर से आपके गाँव पढ़ने जा रहे हैं। किशनपुर को तो कस्बा समझो। स्कूल, अस्पताल, बाजार, पैठ सब है अब तो।" प्रतापसिंह सुन रहे थे पर बदलें माहौल को समझ नहीं पा रहे थे क्योंकि उन्होंने उसे अपनी आँखों से बदलते हुए नहीं देखा था। उनके दिमाग में तो अभी चालीस साल पुरानी तस्वीर ही मौजूद थी। टैम्पो आ गया। अब तक चार-पाँच सवारियाँ और आ गई थीं। सब टैम्पों में बैठकर किशनपुर की ओर चल पड़े। टैम्पो वाले ने प्रतापसिंह को कुछ विशिष्टता देते हुए ड्राइवर की पास वाली सीट पर बैठाया। उनके बगल में वह स्वयं बैठ गया। टैम्पो धड़धड़ाता, हिचकोले खाता और दाएँ-बाएँ झूलता हुआ किशनपुर की ओर बढ़ने लगा। प्रतापसिंह का देहाती इलाके में टैम्पों की सवारी का यह पहला अवसर था। जब तक वे यहाँ आते-जाते थे तब तक न यह सड़क थी न टैम्पो। उस समय इस दूरी को पैदल या साईकिल से तय किया जाता था। टैम्पो की हालत को देखकर प्रतापसिंह का मन हुआ कि उतरकर पैदल चल पड़े। पर यह सोचकर चुप बैठे रहे कि टैम्पोवाला उन्हें सनकी या कंजूस न मान ले।

टैम्पो संकरी ऊबड़-खाबड़ सड़क पर चल रहा था और प्रतापसिंह हरे-भरे खेतों को देख रहे थे। जहाँ कभी बंजर और जंगल था वहाँ गेहूँ और गन्ने की फसल लहलहा रही थी। इलाके की खुशहाली देखकर उनको बड़ा सकून मिला। तभी टैम्पो एक ओर झुका प्रतापसिंह को लगा कि अब वह पलटने ही वाला है और उनकी बगल में बैठा युवक बस अब गिरा। उन्होंने उसे अपनी ओर खींचा, पर न टैम्पो गिरा न टैम्पोवाला। उन दोनों के लिए यह नित्य का अभ्यास था। वह लड़का जोर से हँसा और बोला—"अंकल तो डर गए। सुनकर सभी ने जोरदार ठहाका लगाया। एक सज्जन बोले—"अरे भई शहरी बाबू हैं, इन्हें ऐसी सड़कों की आदत कहाँ।" अब प्रतापसिंह उन्हें कैसे समझाते कि उनके लिए तो शहरी सड़कें भी थर्डक्लास हैं। उन्हें तो फौजी जीप में सपाट सड़कों पर चलने की आदत है।

बस चुप ही रहे। किशनपुर तक टैम्पो ने ऐसे झटके कई दिए। एक बार तो सवारियों से धक्का भी लगवाया। तब किशनपुर तक का रास्ता पार लगा।

प्रतापसिंह ने देखा किशनपुर सच में बदल गया है। पहले गाँव के बीच बड़ा-सा बरगद का पेड़ था। आते-जाते यात्री यहाँ बैठा करते थे, कितने ही फेरीवाले दोपहर भर ठहर जाते थे, एक कुआँ था उस पर प्याऊ थी, कितना ठण्डा पानी था उसका और ऐसी ही ठण्डी छाया थी बरगद की। स्कूल आते-जाते वे रोज ही यहाँ पानी पीते थे। पिताजी ने तो न जाने कितनी दोपहरियाँ यहाँ काटी थी। बरगद की जगह पर अब एक छोटा-सा बाजार बन गया था। बाजार में एक दुकान कम्प्यूटर सिखाने की थी इसी पर पी.सी.ओ. भी लिखा था। एक दुकान बिस्कुट, ब्रेड और इसी तरह की खाद्य सामग्री की थी। चाय नाश्ते और मिठाई की भी दुकानें थीं। विभिन्न प्रकार के शैम्पू, पाउचों से सजी सौन्दर्य प्रसाधन की कई दुकानें थी। सिलाई और रेडीमेड गारमेंटस की दुकानें भी नजर आ रही थीं। प्रतापसिंह की इच्छा हुई एक बार पूरा बाजार घूम लिया जाए। बाजार की पीछे वाली लाइन में प्रतापसिंह को एक ढाबा दिखाई दिया। जिसके बाहर ही बैंच पर बैठे कुछ लोग दाल रोटी खा रहे थे। उसी लाइन में फोटोग्राफर की दुकान थी। तभी उनकी नजर कोने में पर्दा डली एक दुकान की ओर गई। उस पर उन्हें ब्यूटी पार्लर का बोर्ड नजर आया। उन्हें थोड़ा आश्चर्य हुआ यह भी यहाँ है। वे घूमकर बाजार के दूसरी ओर आए। इधर कुछ फल और जूस वाले ठेले खड़े थे। इसी तरफ एक मेडिकल स्टोर था जो कुछ हद तक जनरल स्टोर भी था। ठेलों के पास ही खुले आसमान के नीचे एक मैकेनिक का कारोबार फैला था। मैकेनिक का साथ निबाहने को दो मोची भी मौजूद थे। प्रतापसिंह ने समझ लिया शहर में जो भी उपलब्ध है यहाँ हरेक का नमूना मौजूद है और वास्तव में इलाका तरक्की पर है। प्रतापसिंह को खाने-पीने को कुछ दुकानों को छोड़कर शेष पर पान बहार, पान मसाला और विभिन्न कम्पनियों के गुटका पैकेट नजर आए। यहाँ तक कि पान की दुकान पर भी पान कम और पान मसाला अधिक था। दोपहर के बारह बजे चुके थे। प्रतापसिंह का मन हुआ कि राकेश की मौसी के यहाँ जाएँ। फिर उन्होंने सोचा व्यर्थ ही किसी को परेशान करना ठीक नहीं। उन्होंने ढाबे पर खाना खाया। शाम को टैम्पो के लौटने का समय मालूम किया और एक फल वाले से रामपुरा जांने वाले रास्ते की जानकारी ली। उसने उन्हें सलाह दी—"आप रिक्शे से जाइए। चार-पाँच किलोमीटर दूर तो है ही।" प्रतापसिंह की स्मृति में किशनपुर से रामपुरा का रास्ता करीब दो कोस था। बचपन में वे पैदल ही यह दूरी तय कर लेते थे।

उन्होंने कोई तर्क न किया। रिक्शे में बैठकर चल दिए। सड़क खड़ंजे वाली थी इसीलिए रिक्शे की सवारी भी घुड़सवारी का आनंद दे रही थी। गेंहुओं का रंग सुनहरी हो गया था और सरसों पूरी तरह पक गई थी। प्रतापसिंह बड़े आनंद से यह सब देखते जा रहे थे। उन्होंने खेतों में लोगों को काम करते देखा। उनका मन हुआ दौड़कर गले मिल लें। इन्हीं में तो उनके पुराने दोस्त होंगे। पर साहस न कर पाए। मन ढेरों शंकाओं से भर गया। कोई उन्हें ठग, सिरफिरा या आतंकी समझ ले तो? उन्होंने निश्चय किया कि पहले गाँव में जाकर हरिहर चाचा से मिलना ही ठीक रहेगा। उन्हीं के माध्यम से अन्य लोगों से मिलेंगे। उन्हें बचपन के होली गीत की कुछ पंक्तियाँ याद आ गई। वे उन्हें गुनगुनाने लगे। इस समय उनका मन इतना उत्साहित था कि उसकी गति वे ही जान सकते थे। प्रतापसिंह को लगा जैसे उनकी कोई बड़ी मनौती पूरी हो गई है और वे उसके चढ़ावे को किसी बड़े तीर्थ को जा रहे हैं। फिर एक पल को महसूस हुआ वे वर्षों की बिछुड़ी अपनी माँ से मिलने जा रहे हैं। आज जी भरके उससे बात करेंगे। वे अपने बचपन के साथियों के नाम याद करने की कोशिश करने लगे। उन्हें दो नाम याद आए इतवारी और जनेसर। जनेसर उम्र में उनसे बड़ा था और गुल्ली डंडे में अधिकतर वही जीत जाता था। इतवारी के विषय में कुछ अधिक याद न आया। प्रतापसिंह ने जब द्वितीय श्रेणी में हाईस्कूल की परीक्षा पास की थी तो उनके पिताजी ने उन्हें हीरो साईकिल खरीदवाई थी। छुट्टियों में जब वे घर आते तो साईकिल भी साथ ले आते थे। उन्हें कुछ किशोरियों और नई दुल्हनों के धुँधले-धुँधले से ऐसे चेहरे याद आने लगे जो उन्हें साईकिल पर जाता देखकर खेत में काम छोड़कर खड़ी हो जाती थी और देर तक देखती रहती थीं। उस समय प्रतापसिंह स्वयं को कितना विशिष्ट महसूस करते थे कि उस विशिष्टता का अहसास आज भी उन्हें आनंदित कर रहा था। प्रतापसिंह ने उन चेहरों के नाम याद करने का प्रयास किया पर कुछ याद न आया। सड़क किनारे पेड़ घने होने लगे थे शायद वे गाँव के करीब पहुँच रहे थे। अचानक तेज गंध ने उनके विचारों को भंग कर दिया। सड़क किनारे दूर तक कचरा फैला था, गड्ढों में पानी सड़ रहा था और पूरा वातावरण असहनीय दुर्गंध से भरा था। प्रतापसिंह को याद आया यह वही जगह है जहाँ से उनके छुटपन में लोग घर लिपाई के लिए मिट्टी खोदा करते थे कितनी लुभावनी गंध थी उस मिट्टी की। गर्मी शुरू होते ही लोग कच्चे घरों को दीवार सहित मिट्टी से लीप लिया करते थे। उनकी दादी हमेशा कहती थी—"कच्चे कोठे में रहो। गर्मी में इससे ठण्डी और कोई जगह नहीं है।" इन्हीं खादानों के

आस-पास बहुत से ढाक के पेड़ थे। जो बसंत शुरू होते ही नारंगी फूलों से लद जाते थें उनके फूलों के रंग से होली खेलने का खास महत्त्व था। उनसे चर्मरोग और बदलते मौसम में होने वाले छूत के रोग दूर भागते थे। ढाक के पत्तों के पत्तल और दोने बनाये जाते थें बचपन में ढाक के हरे पत्तों में चाट-पकौड़ी खाने का अलग ही आनंद था। प्रतापसिंह ने देखा अब वे सब पेड़ भी गायब थे। बदबूदार कचरे से करीब दो सौ गज की दूरी पर सामने की ओर एक पब्लिक स्कूल बन गया था। बड़ा-सा बोर्ड लगा था, ''सरोज देवी पब्लिक स्कूल। कुछ बच्चे खेल रहे थे कुछ दौड़ रहे थे। तीन-चार मिनी बसें नई पुती खड़ी थीं। बच्चे खूब शोर कर रहे थे, शायद उनकी छुट्टी का समय था। रिक्शा टन-टन घंटी बजाता और इधर-उधर झुकता आगे बढ़ रहा था। रिक्शे वाले ने बूझा, ''कहाँ जाओगे ताऊजी?''

''कहाँ जाएँगे? अरे यही रामपुरा में।''

''किस मोहल्ले में।''

प्रतापसिंह सोच में पड़ गए। उन्हें हरिहर के यहाँ जाना था। उनके मोहल्ले के विषय में तो उन्होंने जानकारी हासिल की ही नहीं थी।

बोले—''बरगद के नीचे चौपाल पर उतार दो।''

रिक्शावाला बोला, ''ताऊजी, अब यहाँ न कोई पुराना बरगद है न चौपाल। कहो तो प्रधानजी के यहाँ ले चलूँ।''

रिक्शा कुछ खुली सी जगह पर आ गया। बरगद तो नहीं था। एक नीम का पेड़ था और सामने एक छोटा मंदिर। प्रतापसिंह को लगा। यह शायद उनके बचपन का वहीं शिव मंदिर है जिसमें सावन में उनकी माँ जल चढ़ाती थी। यह तो उनके घर के एकदम नजदीक था और हरिहर का घर उनके घर से दो घर छोड़कर ही था। जगह उन्हें जानी-पहचानी लगी और लगा कि बस अब ठीक जगह पहुँच गए हैं। कुछ ही मिनटों में हरिहर से मिल लेंगे। वे रिक्शा से उतर गए और उसका भाड़ा चुकता कर दिया।

सामने एक परचून की दुकान थी उस पर एक अधेड़ व्यक्ति बैठा था। प्रतापसिंह ने उससे हरिहर का पता बूझा। उनमें अपने गाँव की जमीन पर पैर रखते ही अन्दर से कुछ ऐसी आत्मीयता के भाव उमड़े कि उन्होंने अब से पचास साल पहले अपने संगी-साथियों के साथ जैसी भाषा में बात करते थे उसी के विस्मृत वाक्यों को जोड़कर दो चार वाक्य बोले। दुकानदार ने उन्हें अजीब-सी निगाह से देखा। वह बोला, ''कहाँ से आये हो?''

"बुलंदशहर से।"

दुकानदार की बुलंदशहर में रिश्तेदारियाँ थीं। वहाँ वह जाता रहता था। उसे यकीन न हुआ कि यह व्यक्ति वहीं से आया होगा। इसकी भाषा तो एकदम अटपटी है। फिर भी वह शांत रहा और इस तरह की भाषा का कारण प्रतापसिंह की बुजुर्गियत को मान लिया। प्रतापसिंह ने फिर हरिहर का घर बूझा। अब तक प्रतापसिंह की वेश-भूषा से आकर्षित होकर दो नवयुवक वहाँ आ गए थे। उनमें से कोई भी हरिहर से परिचित न था। प्रतापसिंह आगे बढ़े। कुछ बच्चे उनके साथ चलने लगे। एक युवक भी दुकानदार के कहने पर उनके साथ चल पड़ा। उसने रास्ते में दो लोगों से हरिहर का पता बूझा पर कोई न बता पाया। एक घर के सामने एक बुजुर्ग महिला चारपाई पर बैठी थी। युवक ने कहा, "शायद दादी जानती होगी।"

दादी बहुत ऊँचा सुनती थी। कई बार जोर-जोर से बोलने पर भी उसे हरिहर शब्द समझ में न आया। प्रतापसिंह ने हरिहर के बेटे सेवक का घर जानना चाहा। पर वहाँ मौजूद लोगों में इस नाम से भी कोई परिचित न था। प्रतापसिंह का उत्साह धीरे-धीरे घटने लगा। उन्होंने तीसरा नाम लिया, जीत्तू एक प्रौढ़ इस नाम से परिचित था। पर उसने जानना चाहा कौन से जीत्तू के यहाँ जाओगे। चौधरी जीत्तू या पंडित जीत्तू?"

प्रतापसिंह फिर असमंजस में पड़ गए। बहुत देर तक सोचते रहे। तब उन्हें ध्यान आया। चाचा हरिहर चौधरी ही थे। पण्डितों के घर तो उनके घर से काफी दूर थे। उन्होंने कहा, "चौधरी जीत्तू।"

उस भले मानुष ने प्रतापसिंह की समस्या सुलझा दी थी। परन्तु जीत्तू का घर ये लोग अभी दूर बता रहे थे और दोनों को अपने खेत पर जाने की जल्दी थी। प्रतापसिंह के साथ जाने का उनके पास समय नहीं था। इसी समय स्कूल का रिक्शा आता दिखाई दिया। उसमें बच्चे सवार थे। युवक ने प्रतापसिंह से कहा, "इस रिक्शे के साथ चले जाओ। यह पिछले मोहल्ले में जीत्तू के घर के पास ही जाएगा।"

फिर रिक्शावाले को समझाते हुए बोला, "इन्हें पिछले मोहल्ले का रास्ता दिखा देना। वहीं जीत्तू का पता मिल जाएगा।

प्रतापसिंह जीत्तू के घर पहुँच गए पर जीत्तू घर पर नहीं थे वे किशनपुर गए हुए थे। घर में महिलाएँ और बच्चे थे। न उन्होंने प्रतापसिंह को घर में आने को

कहा और न ही उनका घर में प्रवेश करने का साहस हुआ। वे काफी देर तक यूँ ही खड़े रहे। मन में आया वापस लौट चलें। तभी एक लड़का कुर्सी ले आया। प्रतापसिंह की हिम्मत कुछ बढ़ी। उन्होंने लड़के का नाम व जीत्तू से उसका रिश्ता बूझा। वह जीत्तू का पौत्र था और इंग्लिश स्कूल में कक्षा आठ में पढ़ रहा था। लड़के की माँ ने तुरन्त उसे आवाज लगाई और वह घर में चला गया। करीब दो घंटे प्रतापसिंह कुर्सी पर अकेले बैठे रहे। आते-जाते लोगों ने उनकी ओर अजीब-सी निगाहों से देखा। पर कोई पास न फटका। सब अपनी-अपनी आपा-धापी में थे। चार छः बच्चे उनके पास अवश्य आये जिन्होंने उनकी छड़ी और बैग को छेड़ने का प्रयास किया और प्रतापसिंह को किसी दूसरे मुल्क का प्राणी समझकर मजाक करने ओर हँसने लगे। जीत्तू करीब सात बजे लौटे। अचानक दरवाजे पर अजनबी हैटधारी को देखकर कुछ चौंके। फिर प्रतापसिंह को नमस्ते का बहुत अस्पष्ट-सा जवाब देकर सीधे घर में चले गए। वे थोड़ी देर बाद बाहर आये तो प्रतापसिंह ने अपना परिचय दिया। जीत्तू की उम्र साठ के ऊपर थी। वे थोड़े रुखे और भुलक्कड़ मिजाज के हो गए थे। पहले तो बड़ी मुश्किल से उन्होंने प्रतापसिंह को पहचाना फिर अचानक उनके आने से सशंकित से हो गए। जीत्तू को यह यकीन नहीं हो रहा था कि इतनी दूर से, इतने सालों बाद कोई बस यूँ ही मिलने चला आया है। उन्होंने खोद-खोदकर प्रतापसिंह के रिश्तेदारों, परिवार और आने के कारणों की जानकारी ली। जब उन्हें थोड़ा विश्वास जमा तो घर में प्रतापसिंह के लिये खाना तैयार कर लेने को कहा। जीत्तू ने इतने बेमन से प्रतापसिंह को खाना खिलाया कि प्रतापसिंह का मन हुआ अभी शहर लौट जायँ। पर लौट जाने का कोई साधन न होने से रुके रहे। रात में प्रतापसिंह के लिए बाहर ही चारपाई बिछा दी गई। जीत्तू कुछ देर उनके पास आकर बैठे। प्रतापसिंह ने चाचा हरिहर व बड़े भाई के बारे में बूझा। जीत्तू ने पहले तो उन्हें टालना चाहा दुबारा बूझने पर बताया कि पिताजी को मरे तो एक जमाना बीत गया। अब तो हमारे ही पाँव कबर में लटके हैं। हाँ, बड़े भाई अभी हैं वे अपने बेटे के साथ शहर में चले गए हैं पर किस शहर मुहल्ले में हैं, इसको तब भी वे गोल कर गए।

प्रतापसिंह ने उनके भाव को समझकर बातों का रुख मोड़ने के ख्याल से अपने बारे में बात शुरू की। उन्होंने अपने दोनों बेटों के नाम व नौकरी के बारे में बताया पर जीत्तू ने उसमें कोई रुचि न दिखाई। हाँ जब प्रतापसिंह ने अपने पौत्र-पौत्री का जिक्र किया कि वे गाँव के किस्से बड़े चाव से सुनते हैं और पोते को तो रामायण व महाभारत की बहुत-सी कहानियाँ भी याद हैं तो जीत्तू उनकी

बात काटते हुए बोले, "अरे भाई अब क्या धरा है उन कहानियों में? हमने तो कई साल पहले ही कलर टीवी खरीद लिया था। हमारे बच्चे तो ज्यादातर वी.सी.आर. पे पिक्चर देखते हैं। एक से बढ़ के एक सीरियल देख लो। बालक आँखों से देखेंगे तभी कुछ सीखेंगे। कहने-सुनने से कितना समझ में आता है? प्रतापसिंह चुप सुनते रहे और जीत्तू अपने जोश में बोलते रहे, "हमारी पोती स्कूल में फैन्सी ड्रेस में फर्स्ट आई है। सब कह रहे थे बिल्कुल करीना लग रही है। एकदम अपनी दादी पे गई है और बहू भी उस पे पूरा ध्यान देती है। एक बार देखने में कोई उसे गाँव की मानेगा ही नहीं।"

प्रतापसिंह जीत्तू के व्यवहार से लगभग निरुत्तर और निरुत्साहित हो चुके थे। उन्होंने बातों को खत्म कर देना ही ठीक समझा। दोनों कुछ देर चुप रहे। फिर जीत्तू सोने चले गए।

प्रतापसिंह प्रातः ही तैयार हो गए। वे किशनगंज से जाने वाला पहला टैम्पो पकड़ना चाहते थे। तभी उनके पास दो व्यक्ति आये जो उनके हमउम्र थे। उन्होंने प्रतापसिंह से बूझा, "भई तुम्हीं प्रताप हो।" प्रतापसिंह ने उन्हें अपरिचित निगाहों से देखा और बोले, "हाँ मैं ही प्रताप हूँ कहो क्या बात है?"

"बात क्या है? पहचाना नहीं? मैं हूँ छोटन। तालाब के उस तरफ हमारी झोंपड़ी थी। हम सब साथ खेलते थे। भूल गए क्या? नानक की ओर इशारा करते छोटन ने कहा, "ये हैं नानक! ये लोग लालाजी की बगिया में रहते थे। स्कूल आते-जाते बाग में लड़के सुस्ताते थे।"

प्रतापसिंह को याद आ गया। दोनों के चेहरे थोड़े लम्बे और साँवले हो गए थे। पर आँखें वही पचास साल पुरानी थीं। नानक ने प्रतापसिंह के करीब आते हुए कहा, "और ये क्या? सुबह-सुबह हैट पतलून पहन लिया। हमारे घर नहीं देखोगे? मोहल्ले के उस तरफ अब तो पक्के घर बन गए हैं। महेश ने बताया कि तुम कल जीत्तू का घर ढूँढ़ रहे थे। हम तो नाम से जान गए कि तुम्हीं होगे। पर रात देर हो गई इसीलिए मिलने नहीं आये। दो चार दिन रुककर जाओ।"

प्रतापसिंह को धीरे-धीरे सब याद आ गया। ये दोनों उनके बचपन के साथी थे। उन्होंने बिना संकोच दोनों को गले लगाया। बचपन की दोस्ती जाँत-पाँत नहीं मानती और अब प्रतापसिंह हिन्दुस्तान घूम लिये थे उनके खुले विचारों में इनका कोई स्थान नहीं रहा था। अब तक जीत्तू भी बाहर आ गए थे। नानक और छोटन को प्रतापसिंह से आत्मीयता से मिलते देखकर उन्हें अपने व्यवहार पर थोड़ी शर्म

महसूस हुई। उन्होंने प्रतापसिंह को खाना खाकर जाने के लिए कहा। मगर प्रतापसिंह जाने का इरादा कर चुके थे। उन्होंने अपना बैग खोलने के लिए हाथ बढ़ाया। कल बस अड्डे से उन्होंने बच्चों के लिए कुछ पौराणिक कथा साहित्य खरीदा था। उसे वे जीत्तू के घर के बच्चों को देना चाहते थे। पर रात जीत्तू की टी. वी. और वी.सी.आर. की बात ध्यान आ गया और उनका हाथ ठिठक गया। वे सीधे खड़े हो गए। और जेब से सौ का नोट निकाल कर पास खड़ी बच्ची की ओर बढ़ा दिया। जीत्तू ने हल्की-सी ना के साथ नोट पकड़ने की अनुमति बच्ची को दे दी। प्रतापसिंह ने जीत्तू से विदा ली और चल पड़े। नानक और छोटन उन्हें गाँव के बाहर तक छोड़ने आये। उनसे फिर आने का वायदा कर प्रतापसिंह रिक्शे में बैठ गए।

प्रतापसिंह ने महसूस किया कि कल और आज के वातावरण में जमीन-आसमान का अन्तर है। कल जब वे किशनपुर से रामपुरा के लिये चले थे तो हवा कितनी सुहावनी बह रही थी। शहरी घुटन भरे वातावरण से निकल कर वे वर्षों बाद खुले में आये थे। खेतों में पके गेहूँ और झूमते पेड़ उनका स्वागत कर रहे थे, उनका मन हिलौरे ले रहा था। आज सब बुझा-बुझा सा, बदला-बदला सा लग रहा है। वे बरगद चौराहे से गुजरे वहाँ वही पुराना शिव मंदिर कुछ जीर्णोद्धार के साथ मौजूद है। मन्दिर का विस्तार भी हुआ है। पर न भक्त हैं न भजन। हाँ उसकी बगल में पान के खोखे पर अत्याधुनिक भोंड़े फिल्मी गानों की कैसेट तेज आवाज में बज रही है। उनके बचपन में यह मन्दिर एक चबूतरा मात्र था। बीचों-बीच शिवलिंग था और उस पर लोहे का जाल लगा था। पण्डितजी सुबह चार बजे ही मन्दिर को धो-पोंछकर साफ कर देते थे और भोर होते तक शिवलिंग फूलों और बेल पत्रों से लद जाता था। पर अब सूर्यदेव आसमान में ऊँचे चढ़ गए हैं और मंदिर सूना है। तभी कलवाली दुर्गन्ध का झोंका आया। प्रतापसिंह ने नाक बन्द कर ली। प्रतापसिंह ने देखा कि न केवल उनके गाँव के पास के वरन जंगल में लगभग सभी स्थानों से पलाश के पेड़ कट गए हैं। थोड़ी थोड़ी दूरी पर नलकूप लग गए हैं। उनका बेतरतीब बहता पानी आस-पास कीचड़ और बदबू फैला रहा है। बच्चे पैदल, बस और रिक्शों से स्कूल की तरफ भाग रहे हैं उनका रिक्शेवाला कोई फिल्मी गीत गुनगुना रहा था। खेतों में लोग काम में जुटे थे। पर पचास साल पुराने साइकिल सवार को देखने की फुर्सत अब उन्हें नहीं थी। प्रतापसिंह को किशनपुर पहुँचने में थोड़ी देर हो गई थी। पहला टैम्पो जा चुका था। अब उन्हें अगले टैम्पो के लिए एक घंटा इंतजार करना था। बाजार खुल गया था। चाय

नाश्ते की दुकानें सज गई थीं। प्रतापसिंह ने एक दुकान पर चाय पी, चार ब्रेडपीस खाये और देर तक अखबार पढ़ते रहे। चायवाले को पैसे देने के लिए उन्होंने पर्स निकाला। उसमें राकेश की मौसी के पते वाली पर्ची मौजूद थी। पर अब प्रतापसिंह की किसी से मिलने की इच्छा नहीं थी। बाजार में जगह-जगह ढेरियाँ लगाकर छोटे-छोटे लड़के कैमिकल रंग बेच रहे थे। दुकानों पर ढेरों रंग और शक्ल की पिचकारियाँ लटकी थीं उनमें पिस्तौलों की भरमार थी। प्रतापसिंह ने महसूस किया कि अब टेसू यहाँ भी नसीब नहीं है। टैम्पो आया और वे उसमें बैठ गए। टैम्पो खचाखच भरा, हिचकोले खाता बढ़ चला। आज प्रतापसिंह को टैम्पो के हाल और चाल से कोई शिकवा नहीं था। टैम्पो एक ओर झुका तो प्रतापसिंह ने देखा कि किसानों के लोभ और खेती के नए औजारों ने सड़क को फिट भर अन्दर तक खोद लिया है। उन्होंने सोचा, इनका बस चले तो सड़क पर भी गेहूँ बो दें।

प्रतापसिंह इसी रास्ते कल प्रसन्नचित आये थे। आज दुःखी मन से लौट रहे थे। वे खेत, वे खलिहान, सावन के गीतों से गूँजते वे बगीचे, होली गीत गाते महिलाओं के समूह, आनेवालों को गले लगाने वाले वे भोले ग्रामीण और वो सब कुछ जिसे देखने की ललक बरसों से प्रतापसिंह के दिल में पनप रही थी अब नहीं था। उनकी स्मृतियों का वह गाँव जहाँ उनका बचपन बीता था, खो गया था।



डॉ. (श्रीमती) अपर्णा शर्मा

शिक्षा : एम.ए. (प्राचीन इतिहास व हिन्दी)
एम.फिल. (इतिहास)
पी-एच.डी. (इतिहास)

प्रकाशित रचनाएँ : पुस्तक : भारतीय संवतों का इतिहास
(ISBN : 81-85396-10-8)
(एस.एस. पब्लिशर्स, दिल्ली-94)

विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख, पुस्तक समीक्षाएं, कहानियाँ एवं कविताऐं प्रकाशित।

लगभग 100 बाल कविताएं भी प्रकाशित।

दूरदर्शन, आकाशवाणी एवं काव्यगोष्ठियों में भागीदारी।

सम्पर्क : 'विश्रुत',
5 एम.आई.जी., गोविंदपुर
निकट अपट्रान चौराहा
इलाहाबाद-211004 (उ.प्र.)

दूरभाष : 0532-2542514

ई-मेल : draparna85@gmail.com

मूल्य : 220.00

माउन्ट बुक्स

ए-27/2-ए, शास्त्री मार्ग नं. 3, मौजपुर, दिल्ली-53 (भारत)

फोन : 011-22854533, 9810447053, 9873404472